महिला-गौरव

लेखक
वृन्दावन शास्त्री, ऐम॰ए॰, ऐम॰
(भूतपूर्व प्रोफ़ेसर, आर॰ ऐस॰ डी॰ कालेज, फ़ीरोज़पुर)

प्रकाशक
व्रतीभ्राता
गणपत रोड, अनारकली, लाहौर

द्वितीयवार]   सन् १६४३   [मूल्य

(व्रतेन दीक्षामाप्नोति)

प्रकाशक
श्यामचन्द्र विशारद, प्रभाकर
व्रतीभ्राता, गणपत रोड, लाहौर

पृष्ठ ७ से ३८ तक आर्य प्रेस लि०, मोहनलालरोड लाहौर में तथा शेष
..। कपूर द्वारा पंचनद प्रेस शिवाजी रोड, शाहदरामें मुद्रित।

दो शब्द

चरित्र की महत्ता इस बात में नहीं कि उसने किसी आदर्श का कितना अनुकरण किया है, अपितु इसमें है कि वह अपने आप में कितना मौलिक है। मौलिक भी ऐसा कि उसे देखकर अपने पराये सभी श्रद्धा से झुक जाएँ। जिस प्रकार कला में अर्थात् सुन्दरता, कोमलता, मधुरवाणी और सुकुमारता में स्त्री-जाति पुरुषों से बहुत आगे है, उसी प्रकार चारित्रिक महत्ता में भी महिलाओं का गौरव कुछ बढ़ा-चढ़ा ही है। यही कारण है कि महिलाओं को मनुष्य-जाति का उत्तम अंग कहा जाता है और आदर के लिये उनका नाम पुरुषों से पहले लिया जाता है। 'रामसीता' किसी के मुख से कभी नहीं सुना, सभी 'सीताराम' कहकर कृतकृत्य होते हैं। स्त्री-जाति के आदर्श की उत्कृष्ट प्रतिमा सीता हमारी आराध्य देवी हैं। किसी भी महिला के चरित्र का अवलोकन करते समय 'सीता' का स्वरूप सामने उपस्थित हो जाता है, अतः सीता का पृथक् वर्णन न होते हुए भी उसे सब आदर्श-चरित्रों में व्याप्त ही समझना चाहिए।

इस पुस्तक में शैब्या, विदुला, यशोधरा आदि महिलाओं के जिन गौरव-पूर्ण कार्यों का उल्लेख है, उनसे स्त्री-जाति को ही क्या समस्त मानव-समाज को विशेष स्फूर्ति तथा अपरिमित आचरण-बल मिल सकता है। प्रस्तुत पुस्तक में विद्वान् लेखक ने महिलाओं के जीवन की घटनाएं मात्र न देकर उनके चरित्रों का मनोवैज्ञानिक, वैयक्तिक और सामाजिक विश्लेषण किया है। ग्रन्थ का व्यर्थ कलेवर न बढ़ाते हुए तत्त्व निरूपण पर विशेष ध्यान रखा है। यह इस पुस्तक की बड़ी विशेषता है।

कुछ भाषा के सम्बन्ध में भी। आजकल गद्य शैलियों के विकास की कमी का एक विशेष कारण यह है कि प्रायः लेखक अपने गद्य को परिमार्जित तथा सुसम्बद्ध बनाने का प्रयत्न नहीं करते। यह बात नहीं कि कर नहीं सकते, प्रत्युत कुछ प्रमाद ही समझना चाहिये। पर 'महिला-गौरव' में लेखक ने बड़ी सावधानता से भाषा को उदात्त बनाया है। दृढ़ विश्वास है कि इस पुस्तक के अध्ययन से पाठकों का गद्य उत्कृष्ट बन सकेगा।

विनी—

विषय-सूची

——०——

महिला-गौरव

शैव्या

सतयुग के चन्द्रवंशी राजा वीरसेन की गरिमामयी पुत्री शैव्या का आदर्श चरित्र युग-युग की स्त्रियों को गौरवान्वित करता रहेगा। जिस प्रकार प्रातःस्मरणीय रामचन्द्र तथा सीता की गाथा घर-घर में प्रतिपल गाई जाती है, उसी प्रकार रामचन्द्र के पूर्वज सूर्यवंशीय सत्यवादी महाराज हरिश्चन्द्र तथा उनकी पत्नी शैव्या का यशोगान सर्वत्र सदा हुआ करता है।

महाराज हरिश्चन्द्र की सत्यवादिता तथा दानशीलता की महिमा सुनकर वीतराग ऋषि-मुनियों तथा इन्द्र आदि देवताओं में भी राग-द्वेष का संचार हुआ। सत्यवादी हरिश्चन्द्र को परखने की अथवा नीचा दिखाने की लालसा तीव्र हो उठी। उन्होंने प्रचण्ड-प्रकृति विश्वामित्र को इस कार्य के लिये प्रेरित किया। महाक्रोधी विश्वामित्र के सन्नद्ध होते ही सारा विश्वमण्डल काँप उठा।

\+ \+ \+

एक समय ऋतुराज वसन्त का एकाधिकार था। नये नये पत्ते, फूल और नई नई लताएँ राजकीय उपवन की शोभा बढ़ा रही थीं।

कहीं कोयल गा रही थी, कहीं अलि-समूह गूँज रहे थे। शीतल, मन्द, सुगन्ध वायु के झोंके कोमल शाखाओं एवं सुकुमार लताओं से अठखेलियां कर रहे थे। रमणीयता तथा सौरभ से उपवन में मादकता का संचार हो रहा था। इसी उपवन के एक सुरम्य आम्र-वृक्ष के नीचे सुन्दर मंच पर बैठे हुए महाराज हरिश्चन्द्र कुछ सोच रहे थे। इतने में एक ओर से उपवन-लक्ष्मी सी, अपने आलोक से सारा उद्यान जगमगाती हुई, महारानी शैव्या आई। उन्हें आते देख महाराज हरिश्चन्द्र कुछ कुछ मुस्कराए। फिर उन्होंने उठकर शैव्या को अपने वाम पार्श्व में बिठाना चाहा; किन्तु शैव्या तुरन्त ही उनके चरणों में प्रणाम करके नीचे बैठ गई और उसने यों कहना आरम्भ किया—

हे नाथ, नारी का नारीत्व स्वामी के चरणों में है। स्त्री को सच्चा प्रेम-रस पति-सेवा से ही मिल सकता है। स्त्री का मन स्वामी की पूजा करके ही धन्य होता है और पति का हृदय पत्नी को प्रेम देकर पवित्र होता है। वास्तविक प्रेम यही है, शेष तो वासनाएँ हैं। जहां वासना होती है वहां सुखकर प्रेम का अस्तित्व नहीं रहता। यौवन की उमंग या कामनारूपी प्रेम प्रेम नहीं कहला सकता। वह तृष्णा तो असत्य है। वह ऐसी अग्नि है कि जिसका परिणाम राख और कालिख है। उसमें स्वच्छता और मधुरता नहीं। हे स्वामिन्, आप सब कुछ जानते हैं, मैं अकिंचन आपको क्या बता सकती हूँ। आपके सत्य का, आपकी महत्ता का यश दिग्-दिगन्त में प्रकाशित हो रहा है, आपसे कुछ कहना तेजःपुंज सूर्य को टिमटिमाता दीपक दिखाना है; किन्तु अर्धांङ्गिनी होने के नाते मैं भी तनिक प्रार्थना करने का अधिकार

रखती हूँ। हे प्रभु, आप प्रेम-मय हैं, आप प्रजा-पालक हैं, आप कर्तव्य-अकर्तव्य को जानते हैं, तो भी वासना ऋषि-मुनियों तक को मस्त बना देती है। हे पतिदेव, आपकी कीर्ति आपके अनेक ईर्ष्यालु उत्पन्न कर सकती है। वे लोग आपको कष्ट पहुँचाने के लिये और आपके दुग्धवत् श्वेत यश में कालिमा लगाने के लिये भरसक प्रयत्न करने से न चूकेंगे। तब यदि हम वासना के वशीभूत होकर सच्चे प्रेम को भूले हुए होंगे तो उन बाधाओं का सामना न कर पायेंगे, इसलिये देव, मैं आपमें वासना का अभाव देखना चाहती हूँ। तब आप मुझे बहुत ऊँचे दिखाई देंगे। तभी मेरा मन सच्चा प्रेम पाकर प्रफुल्लित हो सकेगा। इस पिशाचिनी वासना का तो कोई अन्त ही नहीं। आप मुझे साथ लेकर ऋतुओं के अनुसार पर्वत की हरी-भरी चोटी पर, निर्मल-सलिला सरित् के तीर पर, कमलों से सुशोभित सरोवर के किनारे पर अथवा इस प्रकार के रमणीक उद्यान में, कहीं भी जाएं! आपकी वासना मिट नहीं सकती, क्योंकि सुख निवृत्ति में है, प्रवृत्ति में सुख और शान्ति कहां?

कुछ सोचकर शैव्या ने फिर कहा—स्वामिन्, मैंने जो कुछ अध्ययन किया है अथवा गुरुजनों से सुना है, उसका यही सार है कि स्वामी के चरण ही मेरे लिये परम तीर्थ हैं। हे प्राणाधार, मुझ अबला को शक्ति दो कि मैं वासना छोड़कर इस तीर्थ से अमर फल पा सकूं। इतना कहते कहते उसकी आंखों से टप-टप कर आँसू बहने लगे, जिनसे राजा के चरण भीग गए। उन्होंने शैव्या को गले लगा लिया और कहा कि हे भद्रे, आज मेरी आंखों के आगे से वासना का अंधकार दूर हो गया है।

'तमोमई अज्ञान अन्धेरी दूर भई प्रभु के गुण गाओ।
ज्ञान अरुन को उदय भयो अब भय न कछू निर्भय बन जाओ।।'

फिर दोनों महान् आत्माएं उठकर धीरे धीरे महलों की ओर चली गईं।

+ + +

आज रोहिताश्व के हर्ष का पारावार नहीं। उसका गुरु के समीप जाने का निश्चय हुआ है। वह भी अन्य बालकों की भान्ति कुछ पढ़ेगा, कुछ स्मरण करेगा, कुछ लिखेगा। जब पढ़कर माता शैव्या के पास आयगा तो उसे पाठशाला का सारा वृत्तान्त सुनायगा; जिसे सुनकर पिता जी भी अतीव प्रसन्न होंगे। यह सोचता हुआ रोहिताश्व पिता जी की ओर चल पड़ा। पर यह क्या! वहां माता तथा पिता दोनों सिर नीचा किये बैठे हैं! चुपचाप, सर्वथा स्तब्ध! रोहिताश्व का विकसित आनन कुछ उतर सा गया। फिर भी वह साहस करके पिता जी की गोदी में जा चढ़ा। महारानी शैव्या तनिक मुस्कराई; महाराज हरिश्चन्द्र ने प्रिय पुत्र का मुँह चूम लिया। कुछ देर और चुप्पी रही, फिर शैव्या ने कहा—पतिदेव, इसमें अधिक सोचने की क्या बात है? यदि आप उचित समझते हैं कि स्वप्न में दिया हुआ दान भी देना ही चाहिये तो अवश्य दीजिये। यह राज्य क्या वस्तु है, यदि सत्य के लिये सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का राज्य भी देना पड़े तो हमें दे देना होगा। महाराज ने कहा—यह तो ठीक है, पर मैं इस चिन्ता में हूँ कि स्वप्न के ब्राह्मण को किस प्रकार ढूँढा जाय। अच्छा, मैं दूतों को चारों ओर भेजता हूँ और उस जटाधारी लाल लाल नेत्र वाले स्वप्न-दृष्ट ब्राह्मण को खोज मंगवाता हूँ। इतना कहकर रोहिताश्व से दो-तीन सरस बातें

करके महाराज हरिश्चन्द्र चले गये। शैव्या रोहिताश्व को गोदी में लेकर सहलाने लगी।

\+ + +

महाराज हरिश्चन्द्र ने राजदरबार में पहुँचकर चतुर दूतों को बुलाकर स्वप्न में देखे हुए क्रोधी ब्राह्मण की आकृति समझाकर कहा कि उसे किसी न किसी प्रकार ढूँढ़कर बड़े सम्मान सहित यहां ले आओ। वे इस प्रकार समझा ही रहे थे कि इतने में एक जटाधारी पुरुष आ उपस्थित हुआ। महाराज को पहचानते देर न लगी। यह स्वप्न में देखा हुआ ब्राह्मण ही था। उन्होंने तुरन्त सिंहासन से उठकर उस ब्राह्मण को प्रणाम किया और कहा—प्रभो, विराजिये, यह आसन है। ब्राह्मण और कोई नहीं था, कौशिक विश्वामित्र मुनि थे। उन्होंने क्रोध में नेत्र लाल करके कहा—बैठने का समय नहीं है, तुमने मुझे सारा राज्य दान में देने का निश्चय किया है, अब देर क्यों करते हो?

महाराज ने उत्तर दिया—महामुने! यह सेवक प्रस्तुत है, यह राज्य आपका है, इस पर अब मेरा कुछ भी अधिकार नहीं, यह लीजिये राज्य-दण्ड। इतना कहकर महाराज सिंहासन से नीचे उतर आये और राज्य-दण्ड विश्वामित्र के हाथ देकर कहने लगे—आज्ञा दीजिये, मैं स्वस्थान जाऊँ। विश्वामित्र ने कुछ क्षण तक मन में सोचा—कैसा सात्त्विक महापुरुष है, राज्य दान करते तनिक भी देर नहीं लगाई; पर इससे क्या? इस आत्माभिमानी का गर्व चूर कर के ही छोड़ूंगा। यह सोचकर विश्वामित्र ने कहा—आज्ञा कैसी? क्या दान अधूरा ही दोगे? इस दान की दक्षिणा कहां है? महाराज पहले तो कुछ घबराये, फिर उन्होंने मन्त्री को बुलाकर

कहा—अमात्यवर्य, राज्यकोष से महामुनि को एक सहस्र स्वर्ण-मुद्रा दक्षिणा-रूप में दे दो। इतना सुनते ही दाँत पीसते हुए विश्वामित्र ने गुस्से में कहा—'अमात्यवर्य, राज्यकोष से महामुनि को एक सहस्र स्वर्णमुद्रा दक्षिणा-रूप में दे दो,' अमात्य कहां से देगा? क्या राज्यकोष तेरा है? तू तो मुझे सारा राज्य दान में दे चुका है, फिर कोष पर किसी का क्या अधिकार? यदि दान देकर लौटाना ही था तो दान दिया ही क्यों था? क्या इसी मजबूते पर सत्यवादी कहलाता है? जा, हम तेरा दान नहीं लेते।

विश्वामित्र के ऐसे वचन सुनकर महाराज ने कहा—भगवन क्षमा करो, अपराध हुआ, मैं भ्रमवश विपथगामी हुआ। आप मुझे एक मास की अवधि दें। मैं इतने समय में एक सहस्र मुद्रा अवश्य प्रस्तुत कर दूंगा।

'तू कहां से प्रस्तुत करेगा? अच्छा देखते हैं, तू अपने वचन पर कहां तक दृढ़ रहता है। देखना, यदि एक मास के भीतर भीतर तूने यह ऋण न चुकाया तो मैं तुझे घोर शाप दूंगा।' मुनि के इस प्रकार कहने पर महाराज ने विश्वामित्र को प्रणाम करके आशीर्वाद प्राप्त कर महलों की ओर प्रस्थान किया।

\+ \+ \+

विकट परिस्थिति थी। शैव्या को भी कोई मार्ग नहीं सूझता था। वह महाराज को सान्त्वना देती, धीरज बँधाती और धर्म पर दृढ़ रहने के लिये प्रोत्साहित करती। पर महाराज को एक सहस्र मुद्रा देने के लिये कोई उपाय दिखाई न देता था। उन्होंने शैव्या को नैहर जाने के लिये कहा। पर संपत्ति-विपत्ति की संगिनी शैव्या उस विपत्ति काल में किसी प्रकार भी संग छोड़ने को तैयार

न हुई। उसने कहा—मुझे बेचकर आप अपने ऋण से उऋण हो जाएं। महाराज पर वज्र की सी चोट पड़ी। उन्होंने कहा—तुम महारानी, तुम्हें बेचूं, छि: ! घृणा को भी मुझ पर घृणा आती होगी; तुम यह क्या कहती हो ! पर शैव्या ने दृढ़ता-पूर्वक कहा—नाथ, आप खिन्न न हों। पत्नी का धर्म पति के लिए सदा अपने आप को प्रस्तुत रखना है। आप मेरे बिकने से व्याकुल होते हैं ! यदि मेरा अंग-अंग काटकर भी बेचना पड़े तो आप बेच डालिये, मैं तैयार हूँ। मैं अपनी पवित्रता को सुरक्षित रखने में पूर्णतया समर्थ हूं। जिसके हाथ बिकूंगी उसे पहले ही प्रतिज्ञात कर लूंगी कि जूठा भोजन न करूंगी और पर-पुरुष से सम्भाषण न करूंगी। हारकर हरिश्चन्द्र शैव्या और रोहिताश्व को लेकर काशी पहुंचे। सच है मनुष्य के जीवन में जब कोई प्रश्न उठता है, कोई दुविधा उत्पन्न होती है, कोई विपत्ति आती है, तब साध्वी पत्नी उसके हृदय में असीम उत्साह और धैर्य उत्पन्न कर देती है। उस समय पुरुष में एक विशेष बल का संचार हो जाता है। वह कमर कसकर आपदाओं का सामना करने के लिए तत्पर हो जाता है। रोहिताश्व को गोद में उठाए हुए शैव्या पति के लिये अपना विक्रय करने निकली। बहुतों ने खरीदना चाहा; किन्तु शर्तें सुनकर सब हाथ पीछे हटा लेते थे। अन्त में एक ब्राह्मण ने महाराज हरिश्चन्द्र को पांच सौ मुद्रा देकर शैव्या को खरीद लिया। रोहिताश्व को शैव्या साथ ही ले गई।

आधी दक्षिणा का प्रबन्ध हो गया, अब आधी कहां से आवे ? अवधि समाप्त होने में कुछ ही दिन शेष रह गए। कोई उपाय न देखकर महाराज हरिश्चन्द्र पांच सौ मोहर लेकर श्मशान-सेवक

चाण्डाल के हाथ बिक गए। इस प्रकार उन्होंने एक सहस्र मोहर को दक्षिणा चुकाई। पर विश्वामित्र की अभिलाषा अभी पूर्ण न हुई। उन्होंने महाराज को और अधिक कठोर परीक्षाग्नि में डालना चाहा।

\+ \+ \+

चाण्डाल की आज्ञानुसार हरिश्चन्द्र रातदिन श्मशान में रहने लगे। जो कोई शव की दाह-क्रिया करने आता, उससे आधा कफन ले लेते, फिर दाह-क्रिया करने देते। एक सम्राट् के लिये इससे अधिक कठिन परीक्षा और क्या होगी? पर सत्यवादी प्रणवीर हरिश्चन्द्र अणुमात्र भी विचलित न हुए। विश्वामित्र के प्रेरित कई व्यक्ति आ-आकर उन्हें प्रलोभन देते थे; किन्तु हरिश्चन्द्र सुदृढ़ शिलाखण्ड की भांति स्थिर रहते। दृढ़ता का ऐसा उदाहरण मिलना कठिन है। कवि ने सत्य कहा है कि—

'चन्द्र टरै सूरज टरै, टरै जगत ब्यौहार।
पै दृढ़-व्रत हरिचन्द को टरै न सत्य विचार ॥'

विधाता को अभी कुछ और ही स्वीकृत था। अपने स्वामी उपाध्याय के लिये फूल चुनने गए हुए राजपुत्र रोहिताश्व को विषधर ने डस लिया। शैव्या का हृदय टूक-टूक हो गया। विपत्ति पर विपत्ति सह ली थी; किन्तु ऐसी महाविपत्ति को सहना वज्र-हृदय के लिए भी असह्य होता है, फिर कोमल मन वाली शैव्या इसे कैसे सह पाई, यही आश्चर्य है। शैव्या शैव्या ही थी, ऐसी धीरा महिला धन्य है। वह असहाया रोती-बिलखती रोहिताश्व को अपने आंचल में लपेट जलाने चली। जिसके आगे-पीछे सैकड़ों दास-दासियां घूमती फिरती थीं, जिसके एक इंगित पर

कुछ का कुछ हो जाता था, जिसके दिए हुए वस्त्राभूषणों से अनेकानेक व्यक्ति समृद्धिशाली बनते थे, वही आज निराश्रित अवस्था में एकाकी बिना शव-वस्त्र के श्मशान में जा रही थी, उसे देखकर रुदन को भी रोना आता था। श्मशान में हरिश्चन्द्र अपनी अर्धांगिनी का विलाप सुनकर चौंक पड़े। उनका दिल धड़कने लगा। बुरी आशंका से उनके रक्त का वेग तीव्र हो गया। पास जाने पर पुत्र रोहिताश्व का मरण जानकर उनके पांव तले से भूमि खिसक गई, उन्हें चक्कर आने लगा। वे गिरने ही लगे थे कि उन्होंने अपने को संभाल लिया। फिर तुरन्त ही आत्महत्या कर लेनी चाही; किन्तु उसी क्षण यह विचार आया कि तू पराया क्रीत-दास है, स्वतन्त्र नहीं, तुझे स्वयं मरने का क्या अधिकार! फिर उन्होंने तनिक सावधान होकर रोते-रोते, विलाप करती हुई रानी से, आधा कफन मांगा। शैव्या ने स्वर और आकृति से पति को पहचान कर कहा—हा देव, इतने दिनों तक कहां छिपे थे? देखो, अपने गोदी के लाल प्रिय पुत्र की दशा! हरिश्चन्द्र ने कहा—प्रिये, धैर्य धरो, यह समय रोने का नहीं है। देखो, सवेरा हुआ चाहता है। ऐसा न हो कि कोई आ जाय और हम लोगों को जान ले, केवल लज्जा बची है, वह भी नष्ट हो जाय। चलो, हृदय पर पत्थर रखकर रोहिताश्व की दाह-क्रिया करो और आधा कफन मुझे दे दो। शैव्या ने रोते हुए कहा—स्वामिन्, मेरे पास तो एक भी वस्त्र नहीं था, अपना आँचल फाड़कर इसे लपेट लाई हूं, यदि उसमें से भी आधा दे दूंगी, तो यह नुङ्गा रह जायगा। हाय! आज सम्राट् के सुत को कफन भी नहीं मिलता! यह सुनकर हरिश्चन्द्र की आँखों से अश्रु की नदी बहने लगी; पर उन्होंने किसी प्रकार

धीरज धरकर कहा—प्रिये, विलाप मत करो। मैं जिसका दास हूं उसकी आज्ञा मानना मेरा परम कर्तव्य है, इसीलिए मैं आधा कफन मांगता हूं। शैब्या ने आंसू रोककर कहा—नाथ, आपका धीरज धन्य है, आपकी जो आज्ञा, यह लीजिये आधा कफन। यह कहकर शैब्या आधा कफन फाड़ने ही लगी थी कि विश्वामित्र मुनि अपने साथियों सहित आ पहुंचे। उन्होंने कहा—बस, भद्रे, बस। आप दोनों धन्य हैं, यह केवल आपकी कीर्ति सदा स्थिर रखने के लिये ही मैंने छल रचा था। आप मुझे क्षमा करें और अपना राज्य संभाल लें। पुत्र रोहिताश्व की मृत्यु नहीं हुई, वह जीवित है। इतना कहकर उन्होंने रोहिताश्व पर जल छिड़का। रोहिताश्व तुरन्त उठ बैठा। चारों ओर महाराज हरिश्चन्द्र और शैब्या का जय-निनाद होने लगा। भारतीय देवियों के ऐसे ही चरित्रों से भारत आज तक जीवित है।

विदुला

आजकल जिस प्रान्त को सिन्ध नाम से पुकारा जाता है, वही प्राचीन काल में सौवीर नाम से प्रसिद्ध था। सौवीर देश का अञ्जन बड़ा प्रसिद्ध था। आज भी सौवीराञ्जन नाम से सुरमा बिकता है। सौवीर देश की राजधानी रोरुक थी, जिसे आजकल रोहरी या रोहड़ी के नाम से पुकारा जाता है। उस समय सिन्ध नदी के पार का प्रान्त सिन्धुदेश या सिन्ध कहाता था। यहां के सैंधव अर्थात् घोड़े बहुत प्रसिद्ध थे। सिन्ध देश और सौवीर देश दोनों के राज्य पृथक् पृथक् थे, और दोनों राज्यों का कभी कभी युद्ध भी हो जाता था। सौवीर और सिन्धु के वीर योद्धा अपने रण-कौशल में प्रसिद्ध थे।

महाभारत के युद्ध को हुए आज ५००० वर्ष से ऊपर हो चुके हैं, तो भी सौवीर देश की वीर रानी विदुला का नाम आज भी भारत की महिलाओं में अपना विशेष स्थान रखता है। महाभारत में विदुला की कथा कुन्ती ने श्रीकृष्ण जी को सुनाई थी। इससे यह निश्चय होता है कि महाभारत के समय में भी महारानी विदुला की यशोगाथा भारत के कोने कोने में फैल गई थी। स्त्रियां, विदुला का उदाहरण सुना कर, अपने रण-भीरु पुत्रों को उत्साह दिया करती थीं। कुन्ती ने भी श्रीकृष्ण द्वारा, इस कथा को यह

का, अपने धर्मभीरु पुत्रों को, युद्ध करके अपना आधा राज्य प्राप्त करने का, उत्साहपूर्वक सन्देश भेजा था। पाण्डवों ने माता का निर्देश पाकर युद्ध किया और जय पाई।

श्रीकृष्ण जी को कुन्ती ने विदुला का जो चरित्र सुनाया था, वह इस प्रकार है—

सौवीर देश प्राचीनकाल से ही प्रसिद्ध है। इस देश का नाम महारानी विदुला के कारण और भी प्रसिद्ध हो गया है। उत्तम वंश में उत्पन्न हुई, राजकुमारी विदुला को उसके माता-पिता ने बचपन से ही सब प्रकार की आवश्यक शिक्षा दिलाई थी। वह व्याकरण, साहित्य, राजनीति, तथा युद्धविद्या में अच्छी कुशल थी। उसका विवाह सौवीर देश के महाराजा से हुआ था। महाराज अपनी पत्नी से राजकाज में सहायता लिया करते थे। *वह बुद्धि और चतुराई से राज्य के बड़े बड़े संकटों को टाल देती* थी। वह राज्य-प्रबन्ध में जहां महाराज को पूरी पूरी सहायता देती थी, वहां अपनी स्वामिभक्ति से अपने गृहस्थ को भी स्वर्ग बनाये हुए थी।

समय पाकर इनके एक पुत्र हुआ। उसका नाम संजय रखा गया। संजय की शिक्षा का पूरा प्रबन्ध किया गया। उस समय की पद्धति के अनुसार धनुर्विद्या में पूर्ण शिक्षा प्राप्त करना क्षत्रिय बालक के लिये आवश्यक समझा जाता था। संजय ने अन्यान्य शास्त्रों के साथ धनुर्विद्या में भी अद्भुत कुशलता प्राप्त की। उसकी विशाल भुजाएं, बड़े कठिन से कठिन धनुष को चढ़ा सकती थीं। उस वीर की हुंकार सुनकर शत्रुओं के हृदय कांप उठते थे। संजय के साथ युद्ध करना सुगम न था। उसकी वीरता की धाक सब

ओर फैल गई थी। उसका विवाह एक सुन्दरी गुणवती क्षत्रिय कन्या से कर दिया गया।

संजय अभी युवा ही था कि उसके पिता का स्वर्गवास होगया। राजनियम के अनुसार पुत्र राज्य का उत्तराधिकारी बनाया गया। संजय सिंहासनारूढ़ हुआ। राजकार्य के प्रबंध में उसने कुशलता दिखलाई; परन्तु कुछ ही दिनों में कुसंगति का दोष लग गया। वह शीघ्र ही भोग-विलास के जीवन में लीन हो गया। उसे अपने राजकार्य का भी ध्यान न रहा। धीरे धीरे उसके राज्य में अन्दर ही अन्दर षड्यन्त्र होने लगे। राजा को विलासी देखकर सिन्धु देश के नरेश ने सौवीर देश पर चढ़ाई कर दी। देश पर एक दम आक्रमण हुआ देखकर संजय हीनबुद्धि हो गया, उसने इस अकस्मात् आई हुई विपत्ति को सोचा तक न था।

युद्ध का आह्वान सुनकर संजय, क्षत्रिय धर्म के अनुसार युद्ध करने को उद्यत हो गया। उसने अपनी सेना को शीघ्रता से एकत्र किया और वह युद्धस्थल में जाकर युद्ध करने लगा। पर सिन्धु नरेश की सेना संख्या में बहुत अधिक थी। वह पहले से ही तैय्यार होकर आई थी। इसलिये उस सुसंगठित सेना के साथ, संजय की अस्तव्यस्त तथा असुसज्जित अल्पसंख्या वाली सेना का युद्ध कब तक चल सकता था। युद्ध अभी आरंभ ही हुआ था कि संजय हतोत्साह होगया। वह युद्ध से पीठ फेर घर को ओर भागा और उसने सीधे अपने राजमहल में आकर शरण ली।

इधर संजय की माता विदुला शत्रु का आक्रमण सुन कर सैन्य-संग्रह कर रही थी। उसे आशा थी कि संजय की सहायता के लिये वह सहस्रों सैनिक थोड़े ही दिनों में भेज सकेगी।

भरे शहरों में देश-रक्षा के लिये उत्साह देकर सहस्त्रों सैनिकों को सेना में भरती करा चुकी थी। सेना के लोग राज्य-रक्षा को शपथ लेकर आये थे। सभी क्षत्रिय उस समय शस्त्रास्त्र विद्या जानते ही थे। महारानी विदुला जब राज्य-रक्षा के लिये इस उद्योग में लगी हुई थी, तभी उसे यह दुखदायक समाचार मिला कि उसका पुत्र, देश का राजा, युद्ध से पीठ दिखाकर भाग आया है। वह वीर क्षत्राणी इस कुसमाचार को सुनकर कैसे चुप रह सकती थी? वस तुरन्त संजय के महल में पहुंची और अपने हताश हुए पुत्र को इस प्रकार संबोधन करके कहने लगी—

विदुला—पुत्र! तू इस प्रकार महल में क्यों पड़ा है? क्या तुझे पता नहीं कि शत्रु ने देश पर आक्रमण किया है? तुझे तो मैंने तिलक लगाकर और विजय-कामना करके युद्ध में भेजा था, फिर तू शत्रु को बिना जीते घर में कैसे लौट आया? शीघ्र बतला, क्या तू अपने देश पर धावा करने वाले आततायियों को जीतकर और उन्हें अपने वश में करके आया है या उनसे डरकर आया है?

संजय—(कुछ देर चुप रहने के बाद) माता जी! यह युद्ध नहीं है, यह तो डाका है। बिना सूचना दिये शत्रु ने आक्रमण किया है। उसकी सेना असंख्य है, वह सुसज्जित और संगठित सेना के साथ आया है। हमारी सेना उसके सामने थोड़ी है। फिर भला यह युद्ध धर्मसम्मत कैसे कहा जा सकता है?

विदुला—अरे! क्या कहता है? मैं पूछती हूं कि युद्ध से भागकर आया है या शत्रु को जीतकर। मैं शत्रु की सेना की प्रशंसा नहीं सुनना चाहती। तू मेरे प्रश्न का उत्तर दे, जिससे

मुझे सत्य का पता लगे।

संजय—माता जी! युद्ध है ही कहां, वे तो डाकू हैं। धर्म-युद्ध को युद्ध कहते हैं। डाके को नहीं।

विदुला—अरे कायर! मैं सब समझ गई! तू मुझे सीधा उत्तर भी देने में लजाता है! तू रणभूमि से भागा हुआ गीदड़ है। तू युद्ध से डरकर घर भाग आया है! तेरे लिये युद्ध के उपस्थित होने पर धर्म और अधर्म का प्रश्न उपस्थित होगया है। अरे नपुंसक! शत्रु सिर पर पहुंच चुका है! तेरी सेना प्राण हथेली पर लिये लड़ने को उद्यत हो रही है। अरे! तू शत्रु के युद्ध को डाका कहकर सन्तुष्ट हो यहां बैठा है! उठ, युद्धभूमि में जाकर डाकुओं का संहार कर। घर में पड़े रहने से तो डाकू देश को लूटने से छोड़ेंगे नहीं, राजा का धर्म है कि डाकुओं से अपनी प्रजा को बचावे।

संजय—माता जी! मैं युद्ध नहीं करना चाहता।

विदुला—क्या कहता है! तू युद्ध नहीं करना चाहता! क्यों? तू अपने को इस देश का राजा नहीं समझता? क्या तेरा धर्म प्रजा की रक्षा करना नहीं है? जिनसे कर उगाह कर भोगविलास कर रहा है, क्या विपत्ति के समय उनकी रक्षा करना तेरा धर्म नहीं? क्या तू अपनी प्यारी प्रजा को मरते कटते और लुटते हुए अपनी आंखों से देखेगा? अरे पामर! अपने धर्म को तो सोच! तू घर में पड़ा पड़ा बातें बना रहा है और शत्रु गढ़ के समीप पहुँच चुका है!

संजय—माता जी! आप चाहे कुछ कहें मुझसे युद्ध न हो

विदुला—अरे कायर ! तू लज्जित होने के स्थान में माता की आज्ञा का भी तिरस्कार करता है ? तू मेरी कोख से उत्पन्न ही क्यों हुआ ? क्यों न तू उत्पन्न होते ही मर गया ! अरे, तू अपनी माता के दूध में कलंक लगाना चाहता है ! क्या तूने क्षत्रिय वंश को कलंकित करने के लिये ही अवतार लिया है ? अरे निर्लज्ज ! जिन प्राणों को तू बचाकर यहां भाग आया है उन प्राणों को क्या शत्रु कभी छोड़ेगा ? तुझे युद्ध-भूमि में प्राण देने चाहियें थे अथवा जीतकर घर आना चाहिये था। तुझे शत्रुओं को आनन्द देकर और अपनी प्रजा को दुःख देकर लज्जा न आएगी ? क्या शत्रुओं से अपनी माता और अपनी स्त्री का अपमान कराना चाहता है ? क्या तू अपनी निन्दा सिंध देश की कन्याओं से सुनकर जीना चाहता है ? या सौवीर देश की कन्याओं से अपनी यशोगाथा सुनना चाहता है ? कह, नरक में जाने की इच्छा है अथवा अक्षय इन्द्र लोक में ?

संजय—माता जी, आप मुझे इतना अपमानित क्यों करती हैं ? यदि मैं ही मारा गया तो क्या आपका अपमान न होगा ? अथवा हम जीत भी गये तो भी मेरी मृत्यु के बाद आप इस राज्य को भोगकर क्या सुखी हो सकेंगी ? क्या किसी माता ने पुत्र की मृत्यु-कामना की है ?

विदुला—अरे नीच ! तू क्या कहता है ? क्या मैं तुझे प्राण देने को इसलिये कहती हूं कि मैं राज्य का सुख भोग सकूं ? तू इस समय नपुंसक होकर आर्यधर्म को भूल चुका है। तू नपुंसकों के समान निस्तेज है। तुझे क्षत्रिय धर्म की लाज

नहीं ; नहीं तो क्षत्रिय-पुत्र होकर माता से ऐसा विषाद क्यों करता ! अरे डरपोक ! थोड़ी देर भी तेजस्वी होकर जीना अच्छा है, पर देर तक निस्तेज होकर जीना अच्छा नहीं । शूरवीर पुरुष सूर्य की तरह सब जगत् पर राज्य करते हैं । वे गीदड़ों के समान दम्भू और डरपोक नहीं होते । तू सिंह का पुत्र होकर सियार का सा आचरण कर रहा है । मैं तुझे सिंह बनाना चाहती हूं ।

संजय—माता जी ! आप इतना तिरस्कार कर रही हैं तो भी मुझे युद्ध करने के लिये उत्साह नहीं हो रहा । न मेरे पास धन है, न सेना है ; अकेले अपने पौरुष पर लड़कर मर मिटने से देश का क्या लाभ होगा ? क्या आप मेरे प्राण देने से प्रसन्न हो जाएंगी ?

विदुला—पुत्र ! मैं तेरे प्राण जाने से कब प्रसन्न हो सकती हूं । तू मेरा अकेला ही पुत्र है । पर बेटा ! यह तो सोच, हारकर जो जीवन भर के लिये सब लोगों से तेरा तिरस्कार सुनूंगी, वह क्या तेरी मृत्यु से बढ़कर न होगा ? पुत्र! क्षत्रियों की युद्ध में मृत्यु भी माता के लिए अभिमान की वस्तु है । तेरी कीर्ति सुनकर मैं तुझे अमर देखना चाहती हूं । सेना और धन की तू क्यों चिन्ता करता है ? तू एक बार उठ तो सही, युद्ध के लिए प्रस्थान तो कर । तुझे दृढ़ संकल्प देखकर सारी प्रजा तेरा साथ देगी । तेरी प्रजा के धनकुबेर अपना भंडार खोल देंगे, सेना तो पहले ही मैंने सज्जित कर रखी है । पुत्र ! उठ, सिंह की तरह गर्जता हुआ, सांप की तरह फुंकारता हुआ शत्रु की कीर्तिपताका को उखाड़

फेंक दे। अपने पिता के राज्य को अपनी वीरता से फिर प्राप्त कर। मैं तुझे आशीर्वाद देती हूं, तू विजय कर के लौटेगा। तुझे युद्ध के लिए आता हुआ देखकर शत्रु कांप उठेगा।

संजय—माता जी! आपके सदुपदेश ने मेरे नेत्र खोल दिए हैं। आपने सेना का प्रबन्ध तो कर ही लिया है। मैं अभी जाता हूं और शत्रु का नाश करके अपने पैतृक-राज्य को लौटाता हूं। किसकी शक्ति है जो मेरे बाणों के प्रहार को सह सके। माता जी! आपका आशीर्वाद मेरे साथ है तो संसार में कौन शत्रु है जो मुझे जीत सके। मेरे धनुष की टंकार सुनकर शत्रुओं के हृदय कांप उठेंगे। इस सिंधु-नरेश की क्या सामर्थ्य है कि मेरे सामने कुछ काल ठहर सके। आप अपनी चरण-धूलि दीजिये। अब आप अपने पुत्र को विजयी होकर ही लौटा हुआ देखेंगी।

विदुला—पुत्र! संजय! मेरे प्यारे पुत्र! यही तो मुझे तुम से आशा थी। उठ बेटा! आ तुझे मैं तिलक लगाकर युद्ध में भेजूं। पुत्र, जा! शत्रुओं को अपने राज्य से शीघ्र निकाल कर आ। मैं तेरे लिए विजय उत्सव मनाऊंगी। तू क्षत्रिय का पुत्र है। तेरी माता क्षत्राणी है। जा! परमेश्वर तेरी सहायता करेंगे।

संजय ने माता के चरणों में प्रणाम किया और उसका आशीर्वाद लेकर युद्ध में प्रस्थान कर दिया। पता लगते ही सहस्रों सैनिक साथ हो लिये। विजयोत्सव में मस्त हुए सिन्धुराज पर सौवीर का राजा संजय एकदम सिंह के समान टूट पड़ा। सौवीर की सेना ने सिंध की सेना पर वह बाण वर्षा की कि उनसे भागते ही बना। सिंधुराज का नाश कर संजय विजयोल्लास से अपने

देश को लौटा। माता विदुला ने संजय का धूमधाम से स्वागत किया। देश की रक्षा हो गई। प्रजा ने संजय को वीर राजा मान कर बहुत सा धनधान्य देकर उसके कोष को भर दिया।

यह कथा सुनाकर कुन्ती ने श्रीकृष्ण से कहा कि मेरे पाँचों पुत्रों को यह कथा सुना देना और कहना कि अपने राज्य को युद्ध करके प्राप्त करो तथा माता को पराये अन्न पर पलने से बचाओ। श्रीकृष्ण से यह सब सुनकर पाण्डवों ने दुर्योधन से युद्ध करके अपने राज्य को वापिस लेकर छोड़ा था।

यशोधरा

दण्डपाणि की स्नेहमयी पुत्री गोपा अत्यन्त सुन्दरी तथा गुणवती थी। बड़े चाव और दुलार से लालित पालित होते हुए भी उसने वास्तविक शिक्षा पाई थी। स्त्रीत्व की वास्तविकता को पाने के लिये जिन जिन गुणों की आवश्यकता होती है, गोपा में वे सब गुण विद्यमान थे। गोपा ही आगे चल कर यशोधरा नाम से प्रसिद्ध हुई।

गोपा का समय भारतीय इतिहास में अपनी विशेष महत्ता रखता है। आज से लगभग २५०० वर्ष पूर्व भारतवर्ष में इतना विस्मयकारक परिवर्तन हुआ कि उसका प्रभाव देश-देशान्तरों तक पड़ा। उस समय के बहुत पूर्वकाल के आर्यों का जीवन अत्यन्त सरल, पवित्र और उच्च था। कर्म-मूलक वर्णाश्रम-व्यवस्था, पशु-पालन, कृषि, कला, वाणिज्य आदि सब यथावत् थे। यज्ञ, दान और अतिथि-सेवा आर्यों के स्वाभाविक कार्य थे। स्त्रियों का विशेष आदर था, वे स्वतन्त्र होती थीं, अध्ययनाध्यापन उनके लिये भी आवश्यक था। वे वाद-विवादों और शास्त्रार्थों में भाग लेती थीं। यज्ञों में भी स्त्रियों का पूर्ण अधिकार था। लोगों में सामाजिक भावना पर्याप्त थी, हिंसा नाम-मात्र को न थी। पर उससे पीछे के समय में लोगों में बहुत अन्तर आ गया। पवित्र भारतभूमि

अपवित्र हो गई। मांस और मद्य की प्रबलता, यज्ञों में मांस का प्रवेश, वर्णाश्रम-व्यवस्था की पथ-भ्रष्ट रूढ़ि, और निम्न श्रेणी के लोगों पर अत्याचार से तथा तपस्या आदि के विपरीत मार्ग पर चलने से भारत का उच्च-गौरव भूमिसात् सा हो गया। अपढ़ ब्राह्मणों की खूब चलने लगी। चारों ओर अशान्ति का साम्राज्य छा गया।

ऐसे समय में इस भूमि पर एक ऐसे महात्मा का जन्म हुआ, जिसने बड़े होकर भारत की कायापलट कर दी। इसका नाम था सिद्धार्थ जो कालान्तर में गौतम बुद्ध के नाम से प्राणिमात्र का शिरोमणि बना। सिद्धार्थ के पिता शुद्धोदन, हिमालय की तराई में स्थित कपिलवस्तु नाम की नगरी के अधीश थे। प्रजा उन्हें सन्ततिवत् प्रिय थी। पुत्र सिद्धार्थ पर उन्हें अतीव स्नेह था। युवराज सिद्धार्थ कब राज-काज संभाले, उन्हें सदा यही ध्यान रहता था। पर सिद्धार्थ की आत्मा किसी दूसरी ही ओर लगी हुई थी। उस स्वभावतः वीतराग प्राणी के नेत्र बाह्य संसृति में आर्त जीवों की करुणाभरी चित्रपटी देखने में तल्लीन थे और हृदय उनके कष्ट से द्रवित होकर रो रहा था। उन्हें पिता द्वारा प्रस्तुत किये गए आमोद-प्रमोद से तनिक भी लगाव न होता था। होते होते पिता ने पुत्र को विवाह-बन्धन में बांधने की ठानी। विवाह की चर्चा चली। देश-देशान्तरों में दूत भेजे गए। अनेक राजा-महाराजा अपनी अपनी सुरूपा कन्याओं को साथ लेकर कपिलवस्तु में आ उपस्थित हुए। प्रत्येक के मन में यही अभिलाषा थी कि उसी की कन्या स्वीकार की जाय। अपने मन के अनुरूप कन्या का चुनाव करने का पूर्ण अधिकार सिद्धार्थ को दिया गया।

जहाँ और सब कन्याएं नानाविध आकर्षक शृङ्गार करके उपस्थित थीं, वहां गोपा अपने सौम्य स्वरूप को लेकर अत्यन्त स्वच्छ और सरल वस्त्र धारण किये एक ओर बैठी थी। उसके हृदय की निर्मलता, मधुरता, नम्रता और त्याग-भावना उसके स्वभाव-मनोहर मुख पर झलक रहीं थी; किन्तु इसे सिद्धार्थ के अतिरिक्त और कोई देख पाया था या नहीं, यह कहना कठिन है। सिद्धार्थ ने गोपा को चुना, यह देखकर गोपा के आनन्द की सीमा न रही। शुद्धोदन भी अतीव प्रसन्न हुए। गोपा को जीवन-सङ्गिनी पाकर सिद्धार्थ ने भी अपने भाग्य की सराहना की। हितचिन्तिका पतिव्रता गोपा के मिलन से सिद्धार्थ का जीवन सुखमय बीतने लगा। कालान्तर में उन्हें पुत्र-रत्न की प्राप्ति हुई। पर सिद्धार्थ के मन की विरक्ति में कुछ भी अन्तर न आया। वह अग्नि तीव्र होती गई। पिता ने विलास की सामग्रियां बढ़ा दीं, किन्तु सब व्यर्थ। प्रियवादिनी यशोधरा भी इसका कारण न समझ पाई। इससे क्या! सिद्धार्थ को तो कोई और ही लटक लगी थी। अन्त में वृद्ध, रोगी और मृतक के दृश्य ने उन्हें गृह का त्याग करने के लिये उत्तेजित कर दिया। राजपुत्र, उत्तराधिकारी, पत्नी प्रेम-प्राप्त, पुत्र स्नेह-बद्ध सिद्धार्थ रात्रि के समय राजमहल छोड़कर वन में जा पहुँचे।

यशोधरा जब सोते से उठी तो सिद्धार्थ को न पाकर अतीव विकल हुई। उनका पुत्र राहुल भी घर के कोने कोने में पिता को ढूंढ़ने लगा। यशोधरा रोती भी जाती थी और पुत्र राहुल को सान्त्वना भी देती जाती थी। बड़ा करुणा-पूर्ण दृश्य था। इस प्रकार बिना ही कुछ बताए प्रियपति के कहीं चले जाने से यशोधरा का कोमल हृदय टूक-टूक होने लगा। तब कुछ समय के पश्चात्

सिद्धार्थ के सारथि छन्दक ने आकर सारा वृत्तान्त सुनाया कि सिद्धार्थ वन में तप करने गए हैं। सच है, प्राणिमात्र को दुःख से छुड़ाने का महत् कल्याणकारी व्रत जिन्होंने ग्रहण किया है, उन्हें संसार का क्षणिक सुख-भोग कैसे रोक सकता है!

उधर वे तप करने लगे, इधर यशोधरा विरह की घड़ियां गिन-गिन कर काटने लगी। इस वियोग में मोह था, कष्ट था, विपत्ति थी, अश्रु बहाना था, उपालम्भ देना और कोसना भी था, किन्तु वासना न थी। यशोधरा इस बात को सोचती थी कि पतिदेव मुझे बताकर नहीं गए, मेरी दृढ़ता पर उन्होंने भरोसा न किया होगा; इसीलिये उसे अधिक दुःख होता; अन्यथा वह पति को सहर्ष तप के लिये विदा करती। सिद्धार्थ सिद्धि के लिये गये हैं, इस बात से तो वह अपने को गौरवशालिनी मानती थी। सच्ची क्षत्राणी यशोधरा को आत्मविश्वास था कि—

"स्वयं सुसज्जित करके क्षण में,
प्रियतम को प्राणों के पण में।
हमीं भेज देती हैं रण में,
क्षात्र धर्म के नाते।
सखि वे मुझसे कह कर जाते ॥"

इधर यशोधरा इस प्रकार सोचती थी, उधर सिद्धार्थ अपने ध्येय की पूर्ति के लिये जा रहे थे। जाते जाते मार्ग में उन्हें उस समय के तपस्वियों के तीन आश्रम मिले। पर उन्हें वहां साधना का सच्चा मार्ग दृष्टिगोचर न हुआ, वहां केवल स्वर्ग-कामना से शरीर को कष्ट देने का रूढ़िगत अनुकरण ही था। वहां से वे मगध की राजधानी की ओर गए। नगर के पार्श्व में एक गिरिकन्दरा का

आश्रय लेकर ये जीवन की समस्याओं और मुक्ति के मार्ग को सोचने लगे। उस स्थान पर ये एकाकी थे। भिक्षा मांगकर अन्न लाते और अपने हाथ से रसोई पकाते थे। भिक्षा के लिये जाते तो उनकी कांति देखकर लोग बड़ी भक्ति दिखाते थे। धीरे धीरे उनका यश मगध-राज बिम्बिसार के कानों तक पहुंचा। उन्होंने सिद्धार्थ से भेंट कर सन्यास-मार्ग का त्याग करने की प्रेरणा की; किन्तु सिद्धार्थ को तो सच्चा वैराग्य हो चुका था।

इसके अनन्तर ये वैशाली में जाकर आलारकालाम ऋषि के शिष्य बने। वहां उन्होंने थोड़े ही काल में भली भांति विद्या पढ़ी; परन्तु मन की साध पूरी होते न देख वे वहां से चल पड़े। इसके अनन्तर सिद्धार्थ ने नैरञ्जना नदी के तट पर छः वर्ष तक कठोर तप किया। आहार की मात्रा घटाते घटाते एक चावल तक कर दी। शरीर कंकाल मात्र शेष रह गया। पर बोधि-प्राप्ति न हुई, जीवन की गुत्थियां सुलझ न सकीं, जरा-मरण के रहस्य की प्रतीति न हुई, संसार भर को दुःखित करने वाले दुःख की सच्चाई का भास न हुआ। होता भी कैसे, वे अभी सीधे पथ का अनुसरण न कर पाये थे।

कपिलवस्तु में कोमल-हृदया यशोधरा की बहुत कारुणिक अवस्था थी। कभी कभी उसके जी में आता कि प्राणों पर खेल जाय; किन्तु राहुल की रक्षा का भार किसे दे? कौन उसे मातृवत् स्नेह से गोदी में खिला सकता था? उसके हँसने पर हँसने की और रोने पर पुचकारने की सामर्थ्य किसमें थी? कौन अहिर्निश प्रतिबिम्बवत् उसके साथ साथ रह सकता था? यह विचार कर यशोधरा ठिठक जाती। विरह की असीमित अवधि को बिताना

कोई हँसी-खेल न था। वह जगत् भर में अपनी विरहाग्नि का परिणाम देखती थी। ग्रीष्म ऋतु में प्रचण्ड सूर्य से तपे हुए संसार को देखकर यशोधरा कहती—

"तप मेरे मोहन का उद्धव धूल उड़ाता आया,
हाय विभूति रमाने का भी मैंने योग न पाया,
सूखा कण्ठ पसीना छूटा मृग-तृष्णा सी माया,
मेरा ताप और तप उनका जलती है हा जठर मही,
मैंने ही क्या सहा सभी ने मेरी बाधा-व्यथा सही"

इसी प्रकार वर्षा,शरद्,शिशिर,हेमन्त,वसन्त ऋतुओं में यशोधरा को अपने विरह-भाव लक्षित होते थे। वह तारों में रात काटती, सदा पति-वियोग से व्यथित रहती; पर पुत्र राहुल की देख-रेख में कभी प्रमाद न करती। वह कभी उसे कथा सुनाती, कभी उससे खेलती, कभी उसे भोजन खिलाती, कभी उसे वस्त्र पहनाती, कभी पुरानी और कभी नई चर्चा चलाती। राहुल भी सरल हृदय से खेलता-कूदता और खाता पीता तथा पढ़ता-लिखता हुआ पिता की स्मृति जागृत कर माता के हृदय में हूक उठा जाता।

एक बार यशोधरा को अश्रु बहाते देखकर राहुल ने कहा—माता, तुम क्यों रोती हो। अच्छा, मैं समझा, तुम पिता जी को स्मरण कर के रोती हो। मत रो माता, मैं अभी पिताजी को ढूँढने जाता हूँ। माता सहसा चौंक पड़ी। उसने कहा—हैं! यह क्या! क्या तू भी मुझे पिता की भांति अकेली छोड़ कर चला जाना चाहता है! सरल-हृदय राहुल सकपका गया, किन्तु उसने तुरन्त उत्तर दिया—अच्छा मां, तुम मेरा विवाह कर दो, मैं अपनी बहू को तुम्हारे पास छोड़ कर पिता जी को ढूँढने जाऊँगा।

सोचा था कि मेरा उत्तर अच्छा बन पड़ा है, पर उस भोले को क्या पता कि यह तो और भी गहरी चोट थी। यशोधरा ने सिहरकर कहा—भला! मैं तुझे भी तेरे पिता के समान ही कठोर बनता हुआ देखती हूँ, तू भी अपनी कोमल मन वाली अर्धाङ्गिनी को त्याग कर वन में जाने का विचार प्रकट कर रहा है, पिता का अनुकरण करना चाहता है ? मैं अकेली तो किसी प्रकार विरहाग्नि को सह भी रही हूँ, फिर हम दो इस महान् कष्ट को कैसे सहेंगी ? राहुल खिसियाना सा हो गया। पर चुप रहने वाला यह भी न था। उसने झट ही नई कल्पना माता के सामने रखी—हे माता, यदि इससे तुझे कष्ट पहुँचा है तो ले मैं प्रतिज्ञा करता हूँ कि मैं विवाह ही नहीं करवाऊँगा। राहुल ने सोचा इस बार मेरा उत्तर खूब बन पड़ा है, पर उसे क्या पता कि उसके सरल हृदय से निकली हुई यह बात माता पर वज्र की चोट करेगी। यशोधरा की सारी देह काँप उठी—हैं! यह क्या! क्या राहुल परम वैराग्य को बालकपन से ही स्वीकार कर लेगा ? कदाचित् उसे विदित न था कि भावी ऐसी ही है।

इस प्रकार वियोग-व्यथा सहते सहते यशोधरा अपने हृदय को धीर बना रही थी; वह मानो राजमहल में ही कठोर तप कर रही थी। जब सिद्धार्थ बड़े प्रयत्न से वन में मुक्ति का साधन खोजने में तत्पर थे, तब सौम्य-स्वभाव वाली यशोधरा नगर में ही मुक्ति के स्वरूप को समझने में समर्थ हो गई। उसे जरा-मरण के बन्धन का भय न रहा। वह भी शक्तिशालिनी बनकर दृढ़ता-पूर्वक जरा-मरण का सामना करने के लिये प्रस्तुत हो गई। उसने निर्भय होकर कहा—

"यदि इस में अपना नियम और शमदम है
तो लाख व्याधियां रहें स्वस्थता सम है
यह जरा एक विश्रान्ति जहां संयम है
नवजीवन-दाता मरण कहां निर्मम है
जब भावे मुझको और उसे मैं भाऊँ।
कह मुक्ति भला किस लिये तुझे मैं पाऊँ॥"

इतना होने पर भी वह यह अवश्य चाहती थी कि सिद्धार्थ यथाशीघ्र सिद्धि प्राप्त करके लौटें।

उधर लगातार छः वर्ष तक कठोर तपस्या करने पर भी जब सिद्धार्थ को अपने लक्ष्य की प्राप्ति न हुई तो उन्होंने सोचा— देह को कष्ट देकर कभी भी ज्ञान की प्राप्ति नहीं हो सकती, न ही वासना की आग बुझ सकती है। जिस प्रकार विषय-वासनाओं में लिप्त जीवन व्यर्थ है, उसी प्रकार कठोर तपस्या भी निष्प्रयोजन है, निर्बल देह में रहने वाला आत्मा कभी ऊँचा नहीं उठ सकता।

यह सोचकर उन्होंने बीच वाला मार्ग ग्रहण किया; शुद्ध और साधारण भोजन करते हुए आत्मचिन्तन करना आरम्भ किया। उन्होंने समझ लिया था कि जिस प्रकार वीणा का अत्यन्त कसा हुआ तार तीक्ष्ण स्वर वाला होता है और बिलकुल ढीला तार स्वर-रहित होता है, किन्तु न ढीले और न बहुत कसे हुए तार में से अतीव सुमधुर ध्वनि निकलती है, ठीक उसी प्रकार साधारण दशा में रहते हुए ही मनुष्य उन्नति कर सकता है। इस प्रकार साधारण जीवन में आत्मचिन्तन करते हुए उन्हें यशोधरा का भी ध्यान आता था। पतिव्रता पत्नी का ध्यान उन्हें अत्यन्त सहायक सिद्ध हुआ। उन्हें काम, क्रोध आदि ने डिगाना चाहा,

पर उन्होंने इन सब को परास्त करके बोधि प्राप्ति की। इसी से उनका नाम बुद्ध प्रसिद्ध हुआ। उन्हें आर्य सत्य का ज्ञान हुआ और वे आत्मप्रकाश से प्रकाशित हो उठे।

बुद्ध को चार आर्यसत्यों का ज्ञान हुआ—

(१) संसार में दुःख का अस्तित्व है। (२) दुःख की उत्पत्ति का कारण वासना है। (३) वासना न रहने से दुःख से छुटकारा मिल सकता है और (४) दुःख दूर करने के आठ उपाय हैं—सम्यक् दृष्टि, सम्यक् सङ्कल्प, सम्यक् वाणी, सम्यक् कर्मान्त अर्थात् पवित्र काम करना, सम्यक् जीविका, सम्यक् व्यायाम, सम्यक् स्मृति, और सम्यक् समाधि।

बुद्ध को यह स्पष्ट दिखाई दे गया कि जीव के बन्धन का कारण कर्म ही है। यह कर्म वासना और तृष्णा से उत्पन्न होता है। वासना और तृष्णा के नष्ट होने पर इसका भी क्षय हो जाता है। जब मनुष्य में व्यक्तित्व की भावना होती है—वह समझता है कि यह वस्तु मेरी है, इसका बनाने बिगाड़ने वाला मैं हूँ, यह मुझसे भिन्न है, अमुक मेरा मित्र या शत्रु है—तब उसमें वासना और तृष्णा उत्पन्न होती है। ऐसे कर्म से मुक्ति पाना कोई हँसी-खेल नहीं। केवल इच्छा कर लेने से ही कोई इसके बन्धन से मुक्त नहीं हो सकता। इसके लिये पर्याप्त साधना करनी पड़ती है। जब साधक साधना द्वारा संस्कार और अविद्या का नाश करके अलौकिक आनन्द प्राप्त करता है तब जीव का निर्वाण होता है।

इस ज्ञान के साथ ही कदाचित् यशोधरा की सहनशीलता का स्मरण करके बुद्ध को गृहस्थ-जीवन की सचाई का भी ज्ञान हुआ कि प्रत्येक गृहस्थ को अपनी गृहस्थी मंगल-मय तथा

आडम्बर-रहित बनानी चाहिये। उसका कर्तव्य है कि वह माता-पिता की सेवा करे, उनकी सम्पत्ति की रक्षा करे, सब प्रकार से उनका उत्तराधिकारी बनने की योग्यता प्राप्त करे, यदि माता-पिता देह त्याग चुके हों तो श्रद्धापूर्वक उनका स्मरण करे। शिक्षा देने वाले गुरुओं का आदर और उनकी सेवा-सुश्रूषा करे तथा उनकी आज्ञा में रहे। उनकी आवश्यकताओं को भी पूरा करता रहे। सहधर्मिणी, सहकर्मिणी और सहयोगिनी पत्नी का आदर करे, उससे कभी विश्वासघात न करे, उसे वस्त्राभूषणों से सदा सन्तुष्ट रखे। सन्तान को दुष्कर्मों से बचाए और उनकी शिक्षा-दीक्षा का भलीभांति प्रबन्ध करे। अपने मित्रों और स्वजनों से निष्कपट सद्व्यवहार रखे। परोपकारी साधुजनों की सब प्रकार से सेवा करे। घर के भृत्यों की देख-रेख और उनका पालन-पोषण भली भांति करे। प्राणिमात्र पर दया का भाव रखे। हिंसा कभी न करे। यदि यज्ञ में हिंसा अनिवार्य है तो ऐसे यज्ञ से क्या प्रयोजन।

इस प्रकार बोधि प्राप्त करके भगवान् बुद्ध यत्र-तत्र अपने ज्ञान का उपदेश करते हुए कपिलवस्तु पहुँचे। उनके आने का समाचार फैलते तनिक भी देर न लगी। यशोधरा को भी इस अमृतमय संवाद ने उत्फुल्ल कर दिया। राहुल ने आकर कहा कि पिता जी सिद्धि प्राप्त कर के लौट आये हैं, चलो आगे जाकर स्वागत करें। फिर महाराज शुद्धोदन ने बतलाया कि इतनी देर के पश्चात् सिद्धार्थ लौटा है, हमें उसकी अगवानी करनी चाहिए। सेविकाओं ने भी चेताया। पर मानिनी यशोधरा का आत्माभिमान उद्बुद्ध हो उठा। उसने कहा—वे ही स्वयं गये थे, बताकर भी

नहीं गए थे, यदि उन्हें तनिक भी मेरा ध्यान है तो वे स्वयं यहां आवें मैं उन्हें लेने कैसे जा सकती हूँ, जाना चाहूं भी तो जा नहीं सकती. यदि मैं चली जाऊँ तो स्त्रीत्व का भली प्रकार प्रतिनिधित्व नहीं कर सकूँगी।

महाराज शुद्धोदन सहित सारी कपिलवस्तु बुद्ध के स्वागत के लिए गई, किन्तु मानिनी यशोधरा महलों में ही रही। बुद्ध ने जब यह सुना तो वे स्वयं महलों में गए। वहां जाकर उन्होंने यशोधरा से कहा—लो मानिनी, तुम्हारे मान की विजय हो। यशोधरा गद्गद् और रोमांचित हो गई। उसने बुद्ध के चरणों में अपने आप को डाल दिया। बुद्ध ने यशोधरा को उठाया। यशोधरा का सारा उद्वेग शांत हो गया। वह मानो बुद्धमय हो गयी। अन्त में उसने अपने आप को तथा राहुल को भी बुद्ध के तथा बुद्धत्व के समर्पित करते हुए यह कहा—

'तुम भिक्षुक बन कर आये थे, गोपा क्या देती स्वामी ?
था अनुरूप एक राहुल ही, रहे सदा यह अनुगामी।
मेरे दुख में भरा विश्वसुख, क्यों न भरूँ फिर मैं हामी !
बुद्धं शरणं, धर्मं शरणं, संघं शरणं गच्छामि ॥"

विद्याधरी

ज्ञान-विज्ञान के चञ्चरीक तथा नाना विद्याओं के प्रेमी व्यक्तियों के सम्मुख जब आर्यावर्त की विदुषी महिलाओं का वर्णन आता है तो वे श्रद्धा से नतमस्तक हो जाते हैं। अपने देश की स्त्रियों की नाना विध गाथाएं गाने वाले विदेशी भी जब यहां की विद्याधरी सदृश देवियों की चर्चा सुनते हैं तो दांतों तले उंगली दबाने लगते हैं। त्याग, माधुर्य, सरसता और शिक्षा की जन्मभूमि भारत का सिर ऊँचा करने वाली विदुषियों की कथा सुनने को कौन लालायित न होगा। उनकी विस्मय-भरी वार्ता भारत की अतीत महत्ता को मन में प्रज्ज्वलित करके उत्सुकता और उत्थान-भरी गुदगुदी उत्पन्न कर देती है। उपनिषद् काल की गार्गी आदि ज्ञानमयी महिलाओं की सत्ता को सहज ही प्रमाणित करने वाली विद्याधरी का नाम प्रातःस्मरणीय है।

विद्याधरी का द्वितीय नाम उभयभारती प्रसिद्ध हुआ। शैशव से ही विद्या की ओर इसकी असीम अभिरुचि निरख कर इसके माता पिता ने इसे पूर्ण शिक्षिता बनाने का प्रयत्न किया। शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द, ज्योतिष ये छः वेदाङ्ग उसे हस्तामलकवत् हो गए। विद्याधरी अथवा उभयभारती की मेधा-शक्ति, उसकी अध्ययन-पटुता, उसकी सात्त्विक भावना और उसकी सूक्ष्म बुद्धि

उसे शास्त्र-पारंगता बनाने में विशेष सहायक हुई। भारतवर्ष में चारों ओर विद्याधरी का यशःसौरभ संचारित हो रहा था। विद्या के केन्द्र काशी का तो क्या ही कहना! विद्याधरी के पांडित्य की चर्चा वहाँ कोने कोने में अहर्निश होती रहती थी।

ज्यों ज्यों विद्याधरी की आयु बढ़ रही थी, त्यों त्यों उसकी विद्वत्ता तथा कीर्ति और उसके पिता की आशा, उत्सुकता और शंका से पूर्ण चिन्ता अपना आँचल फैला रही थी। किसी कवि ने कहा भी है—'पुत्री उत्पन्न हुई यह बड़ी भारी चिन्ता है। किसे दी जाय, यह बहुत वितर्क है! जाकर सुख भी पायगी या नहीं! सचमुच कन्याका पिता होना बड़ा कष्टमय है।' वैसे तो कदाचित् विद्याधरी के पिता को चिन्ता न होती या कम चिन्ता होती, किन्तु परम विदुषी विद्याधरी के अनुरूप वर मिलना कोई हँसी-खेल न था और यदि पूर्ण पण्डित वर मिलता भी था तो उसके भग्न-गृह में धन तथा जीवनोपयोगी सामग्री के अभाव में भाँय भाँय होती थी।

बड़ी विषम समस्या उपस्थित हो गई। अनेक प्रयत्न करने पर भी उभयभारती के योग्य कोई खाता-पीता शास्त्री-विख्यात पति न मिला। सचमुच पिता की शंका यथार्थ निकली। महाराज जनक की भाँति उनका हृदय भी पुकारने लगा कि 'वीर विहीन मही मैं जानी'। पर विधाता के खेल को कौन समझ पाया है। विद्याधरी के कानों में मण्डनमिश्र के पाण्डित्य का समाचार पहुँचा, उसने धन की विशेष चिन्ता न करते हुए पिताजी को स्वीकृति दे दी। अन्ततोगत्वा विद्याधरी का पाणिग्रहण परम पण्डित मण्डनमिश्र से हो गया।

मण्डन मिश्र काशी में रहते हुए वेद प्रचार करते थे। उन की विद्वत्ता का डंका पहले ही घर घर बज रहा था। अब तो सोने

में सुगन्धि आ गई। विद्याधरी और मण्डन मिश्र की विद्या की कीर्ति-सुरभि से सारी दिशाएं सुवासित हो उठीं। उन दिनों भारतभूमि में बौद्धों का ज़ोर था। वैदिक व्यक्तियों और वैदिक विधियों की सर्वत्र हँसी उड़ाई जाती थी। विश्वमात्र की करुणा और मैत्री से परिपूर्ण भगवान् बुद्ध की वास्तविक शिक्षा को भुलाकर बौद्ध लोग मनमाने कृत्य करते थे। धर्म-स्रोत संघ-विहार विलास-भूमि बनकर देश को पतन की ओर ले जा रहे थे। अहिंसा के नाम पर अकर्मण्यता और कायरता का पाठ पढ़ाया जा रहा था। ऐसे समय में ज्ञान के मार्त्तण्ड पूर्ण बाल-ब्रह्मचारी स्वामी शंकराचार्य सारे आर्यावर्त में भ्रमण कर, बौद्धों से शास्त्रार्थ कर उन्हें पराजित कर रहे थे। इसके साथ ही वे वैदिक पण्डितों को भी परखना अपना कर्तव्य समझते थे।

एक बार स्वामी शंकराचार्य घूमते घूमते प्रयाग पहुंचे। वहां उन्होंने विद्याधरी तथा मण्डन मिश्र की विद्वत्ता की चर्चा सुनी। उनकी विद्या का प्रभाव सुनकर स्वामी शंकराचार्य उनसे शास्त्रार्थ करने के लिये काशी पहुंचे। काशी पहुंचकर उन्होंने एक कुएं के समीप जाकर कुएं पर जल भरती हुई कहारियों से मण्डन मिश्र का घर पूछा। उनके उत्तर में कहारियों ने यह कहा—

'प्रत्यक्षशब्दान्तविधिप्रभेदैः नाना शुका यत्र गिरं वदन्ति ।
द्वारे तु नीडान्तर संनिरुद्धा अवेहि तन्मण्डनमिश्र धाम ॥'

अर्थात् जिस गृह के द्वार पर घोंसलों में बैठे हुए अनेक प्रकार के तोते प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द (वेद) इन चारों प्रमाणों से ब्रह्मविद्या पर विचार करते हैं उसे मण्डन मिश्र का घर समझो।

शङ्कराचार्य यह सुनकर अतीव विस्मित हुए। सोचने लगे कि जहां की कहारिनें इतनी पढ़ी हुई हैं, वहां के निवासी मण्डनमिश्र तो बहुत अधिक विद्वान् होंगे। इस प्रकार सोचते सोचते वे मण्डनमिश्र के द्वार पर पहुँचे।

मण्डनमिश्र यद्यपि धनी नहीं थे, फिर भी अतिथि-सेवा और दान-दक्षिणा में सदा तत्पर रहते थे। उनके घर में कभी सत्संग होता, कभी अध्यात्म विषय पर सुमधुर वाद-विवाद होता, कभी साधु-सन्तों तथा ब्राह्मणों को भोजन कराया जाता, कभी जिज्ञासुओं के प्रश्नों का उत्तर दिया जाता। जिस समय स्वामी शङ्कराचार्य जी मण्डनमिश्र के घर पहुँचे उस समय वे विद्वान् ब्राह्मणों को भोजन करा रहे थे। पतिनिष्ठ विद्याधरी छाया के समान उनका अनुकरण करती हुई पूरी सहायता दे रही थी। उन्होंने नवागत संन्यासी को बड़े सत्कार के साथ सुन्दर आसन पर बिठाया तथा मधुर वाणी बोलते हुए उन्हें भोजन कराकर कुशल समाचार पूछा। शङ्कराचार्य ने कहा—हे विद्वद्वर्य, हे आदरणीय महानुभाव, मैंने आपकी कीर्ति सुनी है। मेरी इच्छा आपसे शास्त्रार्थ करने की हुई है, कहिये, आपकी क्या सम्मति है? मण्डनमिश्र ने तनिक मुस्कराते हुए गम्भीर और मधुर गिरा में इस प्रकार उत्तर दिया—'स्वामिन्, आप यह क्या कहते हैं? कहां आप जैसे तत्त्ववेत्ता परिव्राट् और कहां मुझ सा सामान्य गृहस्थ! मेरा और आपका शास्त्रार्थ कैसा? मुझे कुछ और आज्ञा कीजिये।' शङ्कराचार्य ने कहा—"हे परम विद्वान् महाभाग, ऐसा न कहो, विद्वत्ता में सन्यासी-गृहस्थ, बालक-वृद्ध, स्त्री-पुरुष सब एक सा प्रभाव रखने के अधिकारी हैं। मैं आपका पाण्डित्य सुन चुका

हूँ, अब केवल उसे प्रत्यक्ष करने की कामना है; शास्त्रार्थ अवश्य कीजिए।' शङ्कराचार्य को शास्त्रार्थ के लिये कटिबद्ध जानकर मण्डनमिश्र ने स्वीकृति दे दी।

अब एक और उलझन उत्पन्न हुई। प्रचण्ड-रश्मि दिवाकर की भांति ज्ञान-तेजःपुंज पण्डित-श्रेष्ठ मण्डनमिश्र तथा विद्वन्मणि स्वामी शङ्कराचार्य के शास्त्रार्थ में मध्यस्थ कौन बने! उनसे भी उच्चकोटि के विद्वान् का मिलना कठिन ही था। तब शङ्कराचार्य ने विद्याधरी के लिये प्रस्ताव किया, जिसे मण्डनमिश्र ने मान लिया। फिर क्या था? शास्त्रार्थ की सूचना आग की भाँति सर्वत्र फैल गई।

निश्चित समय पर सब एक विस्तृत स्थान पर शास्त्रार्थ के लिये आ उपस्थित हुए। मध्यस्थोपयोगी एक सुरम्य पीठ पर विद्याधरी इस प्रकार सौम्यभाव से विराजमान थी मानो देवताओं को पढ़ाने के लिये बैठी हुई सरस्वती हो। आबालवृद्ध सब एक-टक उन्मीलित नेत्रों से विद्याधरी की ओर ही देख रहे थे, मानो जगज्जालग्रस्त जीव निर्वाण पाने के लिये जगन्माता को निहार रहे हों। वे कभी कभी स्वामी शङ्कराचार्य और पण्डित-शिरोमणि मण्डन मिश्र की ओर देख लेते थे, किन्तु तुरन्त ही उनके लोचन, चुम्बक से आकर्षित लोह-कील की भाँति, विद्याधरी की ओर खिंच जाते थे। विचित्र दृश्य था, विस्मय को भी विस्मय हो रहा था, चारों ओर सन्नाटा छाया हुआ था। आकाश भी मानो शास्त्रार्थ सुनने की उत्सुकता में स्तब्ध था। तब ठीक समय पर सहसा मोतियों की वर्षा सी करती हुई मध्यस्था उभयभारती विद्याधरी ने कहा—'पूर्व निश्चयानुसार अब शास्त्रार्थ आरम्भ होता है, आशा है उभय

शास्त्रार्थ के नियमों का पालन करते हुए अपने अपने समय का विशेष ध्यान रखेंगे तथा श्रोतागण अत्यन्त पन्धुभाव से यथा-स्थान बैठे हुए शास्त्रार्थ को श्रवण करेंगे और सभा की सौम्यता को सुचारु रूप से स्थापित रखेंगे।

शास्त्रार्थ आरम्भ हुआ। शास्त्रार्थ क्या था, निगमागम का प्रवाह प्रवाहित था, तर्क और युक्तियों का ससैन्य आक्रमण था। दोनों के दोनों शास्त्रों के पारंगत थे। अब जो बोलता अपने अगाध पाण्डित्य से तथा अपनी अकाट्य युक्तियों से सारे श्रोताओं को अपनी ओर कर लेता था। श्रोतागण चकित थे कि आज यह क्या अभूतपूर्व घटना घट रही है। श्रोताओं के मन यह निश्चय न कर पाये कि किसके पक्ष में अपने मन को ले जाएं। दोनों में से कोई भी पराजित होता हुआ दिखाई न देता था। इतने में सहसा शङ्कराचार्य की युक्तियां और उनके प्रमाण मण्डनमिश्र की युक्तियों और उनके प्रमाणों को अतिक्रम कर गए। परम विदुषी विद्याधरी तत्काल ही जान गई कि उसका पति कुछ पिछड़ गया है। उसने अपने पति के तथा अपने मानापमान की तनिक भी चिन्ता न करते हुए यों कहा—'कविर्दण्डी- कविर्दण्डी-कविर्दण्डी न संशयः।' अर्थात् निःसन्देह दण्डी स्वामी शङ्कराचार्य अधिक पण्डित हैं, वे विशेष विद्वान् हैं, वे जीत गए हैं।' विद्याधरी का इतना कहना था कि शङ्कराचार्य की प्रसन्नता का ठिकाना न रहा। यह प्रसन्नता दूसरे पक्ष के लिए अप्रसन्नता का कारण थी, किन्तु क्या इससे विद्याधरी के मुख पर तनिक भी मलिनता आई ? क्या उसके आयत ललाट पर चिन्ता की नाम-मात्र की भी रेखा दिखाई दी ? क्या प्रकृति-सौम्य मण्डनमिश्र का हँस-मुख आकार

अणुमात्र भी विकृत हुआ? नहीं! वे दोनों वैसे ही थे, जैसे शास्त्रार्थ से पहले, मानो वीतराग परमहंस हों। पर दर्शकों में से बहुतों पर इसका गहरा प्रभाव हुआ, उनमें से कइयों के सिर लटक से गए, कुछ एक की वाणी में शिथिलता आ गई, कई उदास और उन्मना हो गए।

ऐसे आन्दोलित समय में आनन्दमग्न शङ्कराचार्य जाने के लिये प्रस्तुत होने ही लगे थे कि विदुषी-रत्न उभयभारती ने शङ्कराचार्य से इस प्रकार कहा—

'अपि तु त्वयाद्य न समग्रजितः प्रथिताग्रणीर्मम पतिर्यदहम्।
वपुरर्द्धमस्य न जिता मतिमन् अपि मां विजित्य कुरु शिष्यमिमम्॥'

अर्थात् यद्यपि आप उनसे अधिक पण्डित हैं, तो भी आपने आज मेरे यशस्वी पति को पूर्णतः नहीं जीता, क्योंकि उनका आधा शरीर मैं आपसे जीती नहीं जा सकी, इसलिए हे बुद्धिमान्, आप मुझे जीतकर फिर उन्हें अपना शिष्य बना सकेंगे।

मण्डनमिश्र की अर्धाङ्गिणी उभयभारती की बात सुनकर शङ्कराचार्य भौचक रह गए। उनसे न उठते बनता था, न बैठते। वे क्या कहें और क्या न कहें। फिर कुछ काल तक सोचते रहने के पश्चात् दण्डी स्वामी शङ्कराचार्य ने कहा—

'यदवादि वादकलहोत्सुकतां प्रतिपद्यते हृदयमित्यबले।
तदसाम्प्रतं नहि महायशसो महिलाजनेन कथयन्ति कथाम्॥'

अर्थात् हे अबले, जो तुमने यह कहा है कि हृदय वाद-कलह के लिये उत्सुकता को प्राप्त हो रहा है, सो अनुचित है; क्योंकि महा-यशस्वी पुरुष महिला-जनों से वाद-विवाद नहीं करते।

इतना कहकर शङ्कर स्वामी ने कुछ स्मित-हास्य किया। उनके

हृदय-वारिधि में पुनः विजय-लहरी उठी। पर विद्याधरी ने तुरन्त ही इस प्रकार उत्तर दिया—

'स्वमतं प्रमतुमिह यो यतते ॥ वधूजनोऽस्तुयदि वाप्यितरः।
यतितव्यमेव खलु तस्य जये निज-पक्ष-रक्षण-परैर्भगवन् ॥
अतएव गार्ग्यभिधया कलहंस्या याज्ञवल्क्यमुनिराडकरोत्।
जनकस्तथा सुलभयाऽबलया किममी भवन्ति न यशोनिधयः ॥'

अर्थात् इस संसार में अपना मत सिद्ध करने के लिये जो प्रयत्न करता है, वह स्त्री हो या पुरुष, अपने पक्ष की रक्षा करने में उद्यत लोगों को चाहिये कि वे, उसे जीतने के लिये अवश्य प्रयत्न करें; इसीलिये कलहंसी गार्गी से मुनिराज याज्ञवल्क्य ने तथा अबला सुलभा से जनक ने शास्त्रार्थ किया था। क्या ये लोग महायशस्वी नहीं थे?

शङ्कराचार्य निरुत्तर हो गए। उन्हें विद्याधरी से शास्त्रार्थ करना ही पड़ा। यह वादविवाद सत्रह दिन तक होता रहा। वेदों और शास्त्रों के नए नए प्रमाणों और तर्क तथा युक्तियों से युक्त यह शास्त्रार्थ इतना गम्भीर, इतना प्रौढ़, इतना प्रभावशाली तथा इतना विचित्र था कि बड़े बड़े विद्वानों के लिये पूर्णतः उसका समझ सकना भी कठिन था। वह शास्त्रार्थ अपने आप में एक बहुत महत्त्व-पूर्ण तथा ज्ञान-मिश्रित शास्त्र है। दोनों एक-दूसरे को जीतने की उत्कट इच्छा से नानाविध वाक्य बोलते थे। दोनों पण्डित थे, अनेक-विद्या-निष्णात थे। कोई भी पराजित होता दिखाई न देता था। तब उभयभारती ने अन्तिम वार किया। पति-विजयाभिलाषिणी विद्याधरी ने प्रश्न किया—काम की भीतरी और बाहरी कितनी कलाएं हैं? प्रश्न बालब्रह्मचारी दण्डी स्वामी

शङ्कराचार्य के लिये सचमुच अपरिचित था; वे स्तब्ध से हो गये। फिर उन्होंने कहा—मैंने ब्रह्मचर्याश्रम से ही संन्यास ले लिया है, इसलिये मैं काम के सम्बन्ध में नहीं जानता और आपके प्रश्न का उत्तर देने में असमर्थ हूँ। फिर क्या था? विजय-ध्वजा उभय-भारती के पक्ष में लहराने लगी। मण्डनमिश्र का उदास आनन उस समय की किरणों से विकसित पद्म की भाँति खिल उठा और विद्याधरी का यशःसौरभ दिग्दिगन्त में प्रसारित हुआ। घटना की रेतीली तह तक जाने वाले कथान्वेषक भले ही यह बतलावें कि शङ्कराचार्य ने कुछ अवधि लेकर पुनः इस प्रश्न का उत्तर दिया, किन्तु यह सर्वथा सत्य है कि उस समय शास्त्रार्थ को प्रत्यक्ष सुनने वालों के अतिरिक्त अन्य भी जिस जिस ने उस वाद-विवाद की वार्ता सुनी उस उसने विद्याधरी की प्रशंसा की। और जिस जिस ने ही क्या, इस शास्त्रार्थ की चर्चा तो सब के कानों में पहुँची होगी। आज भी विदुषियां और विद्वान् उभय-भारती का विरद गा-गाकर अपनी रसना को रसमयी बनाते हैं। विद्याधरी जैसी विदुषी महिलाओं से भारत का मस्तक विशेष गौरवान्वित हुआ है।

पद्मा

हिन्दू जाति के आदर्श केवल भारतीयों को ही नहीं, प्रत्युत जगत्‌भर की सभी जातियों को जीवन के सत्य की शिक्षा देते हैं। यहां जिस बहिन का चरित्र लिखा जा रहा है, उसे हुए अधिक समय नहीं हुआ। यह वृत्तान्त तब का है, जब भारतवर्ष अपने गौरव-मय उत्थान से नीचे उतर आया था, समाज में कुप्रथाओं और बुराइयों का डंका बज रहा था, लोग परस्पर के सद्व्यवहार को भूल रहे थे, स्त्रियों को शिक्षा देना शास्त्रविरुद्ध समझा जाने लगा था। ऐसे समय में भी पद्मा जैसी आदर्श देवियां इस भूमि पर हुई हैं। इसी से इस भू-भाग का मस्तक आज भी आत्म-गौरव से उन्नत है। पद्मा का हृदय कितना विशाल था, उसने भ्रातृ-स्नेह को किस प्रकार निभाहा, इसे पढ़कर हिन्दू जाति अभिमान कर सकती है।

भूपाल राज्य में एक घना जंगल है। उसके समीप ही एक छोटे से गांव में हरदयालसिंह नाम का एक राजपूत रहता था। हरदयालसिंह की पत्नी बहुत मधुरभाषिणी थी। उनके एक पुत्र तथा एक पुत्री थी। चारों प्राणी सुख से रहते थे। हरदयालसिंह बड़े मिलनसार, साधु-प्रकृति, वीर और कार्य-कुशल थे। वे पहले भूपाल राज्य की सेना में नौकरी करते थे। अनुपम वीरता तथा

अदम्य उत्साह के कारण राजा को बहुत प्रिय थे। पर बुढ़ापा आ जाने के कारण उन्हें नौकरी त्याग देनी पड़ी। अब वे अपने परिवार में परम सन्तोष से जीवन-यापन कर रहे थे। निर्धन होते हुए भी आत्मतुष्ट थे। उन्हें लोभ न था, इसी से उन्होंने कदाचिदपि राजा से कुछ याचना नहीं की थी। उनके सुयोग्य पुत्र का नाम जोरावरसिंह तथा आदरणीय कन्या का नाम पद्मावती था। 'होनहार बिरवान के होत चीकने पात' यह लोकोक्ति पद्मा पर पूर्णतः चरितार्थ होती दिखाई देती थी।

उस लीलामय की लीला अनोखी है। वह पलभर में राई से पर्वत और पर्वत से राई बना देता है। उसके एक इंगित पर कल्पना-पुंज मनुष्य की आशाओं का किला धूल में मिल जाता है। ऐसा ही हुआ। न माता-पिता अपनी सन्तति को सुख भोगते देख सके, न पुत्र-पुत्री ही चिरकाल तक माता-पिता की छत्र-छाया का आनन्द ले सके। हरदयालसिंह और उनकी पत्नी एक साथ ही अपने बालकों को इस संघर्षमय विकट संसार में त्यागकर दूसरे लोक में चल दिये। जोरावरसिंह और पद्मा एकाकी थे—निःसहाय, धन-रहित, अबोध, दुःखित और अनुभव-हीन। पर उन दोनों ने धैर्य न छोड़ा, हिम्मत न हारी।

जोरावरसिंह अपनी तथा अपनी बहिन की उदर-पूर्ति के लिये मजदूरी करने लगा। उसे अपने से अधिक अपनी स्नेह-मयी सुकुमारी बहिन पद्मा की चिन्ता थी। वह उसकी अपने प्राणों से भी अधिक रक्षा करता था, उसके सुख से सुखी तथा दुःख से दुःखी होता था। वह सदा यही प्रयत्न करता कि पद्मा प्रसन्न रहे, उसके मुख पर विषाद की रेखा भी दिखाई न दे। कहीं

पिशाचिनी चिन्ता पद्मा को अभिभूत न कर ले, इसी से वह दूर नौकरी करना नहीं चाहता था। मजदूरी कभी मिलती, कभी न मिलती। मिलती भी तो बहुत स्वल्प, इतनी कि कभी कभी तो वह स्वयं भूखा ही सो जाता। पर पद्मा को कभी भी कष्ट न होने देता। खून पसीना एक करके भी उसके लिए कहीं न कहीं से कुछ ले ही आता। उसे सुखी रखने के लिये वह कुछ उठा न रखता। उसके ऐसे महान् स्नेह को देखकर आस-पास के लोग चकित थे।

जोरावरसिंह के इस उच्च, पवित्र और आदर्श स्नेह में बड़े यत्न से पलकर पद्मा की अवस्था द्वादश वर्ष की हुई। इतने थोड़े से समय में जोरावरसिंह ने उसे घर के कामों में दक्ष कर दिया था। इसके साथ ही सब से अधिक आश्चर्य की बात यह थी कि उसने पद्मा को अस्त्र-शस्त्र-परिचालन, अश्वारोहण तथा मृगया आदि में भी सिद्ध-हस्त बना दिया था। अब सुशील और सच्चरित्र पद्मा युद्ध-विद्या-निपुण वीर भगिनी बन गई थी। उस समय उन निरीह बालकों की कुछ बातें नितान्त वेग से बढ़ रही थीं। जोरावर तो बढ़ ही रहा था, उसके साथ पद्मा बढ़ रही थी, व्यय का बोझ बढ़ रहा था और जोरावर सिंह की चिन्ता बढ़ रही थी; क्योंकि आय का कोई उपाय न था, अतः ऋण की मात्रा भी बढ़ रही थी। जोरावरसिंह ने पूर्ण प्रयत्न किया कि ऋण का हाल बहिन पद्मा को विदित न हो, अन्यथा इसे बहुत दुःख पहुँचेगा और यह उदास रहने लगेगी। पर पद्मा बुद्धिमती थी, वह भाई की अवस्था को समझती थी, उत्तमर्णों के आवागमन ने उसे निश्चय करा दिया कि वे ऋण के बोझ तले दबे जा रहे हैं। लेनदार प्रतिदिन चक्कर काटते और जोरावरसिंह से लड़ते तथा अपना

रुपया मांगते थे। पद्मा ने यह भी अनुभव किया कि यह सारी आपत्ति उसके भाई को उसके ही कारण उठानी पड़ रही है। इस विचार ने उसके कोमल मानस को गहरी ठेस पहुँचाई। वह व्यथित हो उठी; किन्तु बेचारी कर ही क्या सकती थी। भाई को कहीं अधिक कष्ट न हो, यह सोच कर मन मसोसकर रह गई।

एक दिन एक साहूकार पद्मा के द्वार पर आकर जोरावरसिंह को पुकारने लगा। उसने जोरावरसिंह को बुरा-भला भी कहा। जोरावर घर में न था। पद्मा ने बाहर निकलकर साहूकार से कहा—आप धैर्य रखें, भाई जी इस समय घर में नहीं हैं। उन्हें आपका ऋण उतारने की पूरी चिन्ता है; वे इसी के लिये यत्न करने गए हैं। आप क्षमाशील हैं, आपने जहां इतने दिवस तक क्षमा किया है, अब भी क्षमा कीजिये। यह कहकर पद्मा का गला भर आया। वह घर के भीतर चली गई।

वह धनी उस समय तो मान गया, किन्तु मार्ग में उसने सोचा कि इस पर तो बहुत सा ऋण है, वह किस प्रकार चुका पायगा। यह सोचकर उसने घर जाकर अपना रुपया लेने के लिये नालिश कर दी। असहाय जोरावरसिंह बन्दीखाने में डाल दिया गया। पद्मा का अब कोई आश्रय न था। अनाथ, निर्धन, निराश्रित पद्मा एकाकी रह गई। उसकी आंखों के आगे अंधेरा छा गया। वह किंकर्तव्य विमूढ़ हो गई। कुछ दिन तक वह मूर्च्छित की सी अवस्था में रही। चतुर्दिक् घना अन्धकार ही अन्धकार दृष्टिगोचर होता था। आशा की क्षीण सी भी रेखा कहीं दिखाई न देती थी। पर अन्त में पद्मा ने अपने को संभाला, हृदय को दृढ़ किया, कमर बांध ली, और भाई को बंधन-मुक्त कराने का निश्चय किया। वह जीवन-संग्राम

में साहस के साथ कूद पड़ी। उसने सोच लिया कि यदि मैंने इस अवसर पर अपने पिता की आन न रखी, अपनी शक्ति का परिचय न दिया, अपने स्नेह-पूर्ण सहोदर को स्वतन्त्र न किया, तो मुझे धिक्कार है।

पद्मा घर से निकल पड़ी। यह सच्ची क्षत्रिया थी। भाई की शिक्षा ने उसे वीर बना दिया था। भाई का अपमान उसे असह्य था। उसके वंश पर यह कलंक था।

उस समय ग्वालियर के शासक दौलतराव सिन्धिया थे। वे प्रायः अङ्गरेजों से युद्ध करते थे, इसलिये उनकी सेना सुसंगठित थी। प्रसिद्ध प्रसिद्ध योद्धा देशदेशान्तरों से आ-आकर उनकी सेना में भर्ती हुआ करते थे।

ग्रीष्म ऋतु में एक दिन सेना की टुकड़ियां सैनिक शिक्षा प्राप्त करके शिक्षण-स्थान से लौटी थीं। पसीने से नहाये हुए सैनिक टहल रहे थे। फिर गणवेष उतारे जाने लगे। सेनापति अपने डेरे के आगे की भूमि में एक कुर्सी पर बैठे हुए थे। भृत्य गण सेवा के लिये प्रस्तुत थे। सहसा एक सुन्दर बांके युवक ने आकर सेनापति को सैनिक विधि से अभिवादन किया। सेनापति ने विस्मय से उस सुगौर, मनोहराकृति, उन्नत-ललाट युवा को पल भर एकटक देखकर प्रश्न किया—तुम कौन हो? यहां किसलिये आये हो।

युवक ने निर्भीक होकर उत्तर दिया—मैं पश्चिम का रहने वाला एक राजपूत हूँ। मेरा नाम पद्मसिंह है। मैं आपकी सेना में भर्ती होना चाहता हूँ। इसी उद्देश्य से आपकी सेवा में उपस्थित हुआ हूँ।

सेनापति ने गले को तनिक गम्भीर बनाकर पर सशंकित हृदय से कहा—'तुम्हारी आयु सेना में भरती होने के अयोग्य जान पड़ती है। फिर भी भविष्य में तुम अच्छे सैनिक बन सकोगे, यह सोचकर तुम्हें अपनी सेना में भरती करता हूँ। खड्गसिंह, इसे नायक रामरुद्र के पास ले जाओ और इसका नाम अंकित करवा दो।'

पद्मसिंह का नाम सैनिकों में अंकित कर लिया गया। यह भी सैनिक शिक्षा के लिये जाने लगा। अन्य सैनिकों ने देखा कि नवागन्तुक सैनिक पहले से ही सब नियमों को जानता है, सैनिक-शिक्षा में निपुण है। सेनापति को भी इस बात का पता चला। वह अतीव प्रसन्न हुआ। अश्वारोहण तथा लक्ष्यवेध में उसे अनुपम जानकर सब को आश्चर्य हुआ। पर जब सेनापति ने देखा कि वह दौड़ते हुए घोड़े पर से अति सूक्ष्म भी निशाना मार लेता है, तो उसके आश्चर्य की सीमा न रही।

युद्ध प्रायः होते ही रहते थे। पद्मसिंह पहले से ही सिद्ध सैनिक था, अतः उसे भी युद्धों में भाग लेना पड़ा। एक मास के भीतर ही उसने कई लड़ाइयों में अपनी वीरता और शूरता का परिचय दे दिया और विजय प्राप्त की। इससे सेनापति के हृदय में उसके पराक्रम की धाक बैठ गई। वह उसे अपना ही समझने लगा। इसी समय में पद्मसिंह ने अपने जीवन की परवाह न करते हुए बड़ी वीरता से सेनापति के प्राणों की रक्षा की, इससे सेनापति उसे अत्यन्त प्रिय समझने लगा। उसने उसके युद्ध-कौशल से प्रसन्न होकर उसे सेना में उच्च पद दे दिया और उत्तम अश्व पारितोषिक में दिया।

अपने विस्मयकारक शौर्य से शत्रुओं को पराजित करने वाला

दुर्गा

आदर्श वीर महिलाओं में गढ़मण्डले की महारानी दुर्गावती की भांति दुर्गा भी वीर-बाला थी। दुर्गा जयपुर-नरेश की कन्या थी। सुन्दर, कान्ति-मयी, कोमलांगी, उदात्त विचारों वाली, धर्मात्मा और आत्म-गौरव की उद्दीप्त ज्वाला। साक्षात् शक्ति-रूपिणी दुर्गा थी। उसका विवाह बूंदी के राजा अजीतसिंह से हुआ था। अजीतसिंह को मानो अमूल्य रत्न मिल गया था। दोनों परस्पर इतने अनन्यरूप से अनुरक्त थे कि इसका विवेक करना कठिन था कि किसका अनुराग अधिक है। एक पल के लिये भी वियुक्त होना दोनों के लिये असह्य था। इस प्रकार के अनुपम लौकिक प्रेम को यद्यपि कई विचारवान् पुरुष श्रेयस्कर नहीं मानते; किन्तु भावुक-जन ऐसे ही लौकिक-प्रेम से अलौकिक परमानन्द की प्राप्ति का मार्ग प्रशस्त हुआ बताते हैं। हां, प्रेम में स्वार्थ-परता नहीं आनी चाहिये। तो सचमुच दुर्गा में विशुद्ध सात्विक-प्रेम की सरिता आकंठ प्रवाहित हो रही थी। उसमें वासना का नाम तक न था। तृष्णा और कामना की धूलि, जो कि सत्य को आच्छादित किये रहती है, पति-प्रेम के शीतल और निर्मल वारि से धुल गई थी। दुर्गा एक प्रकार से जीवन-मुक्त थी। उसका जीवन पति के चरणों में अर्पित था, उसका शरीर

अपना नहीं अजीतसिंह का था। वह निरन्तर पति के सुख की कामना से ही आप्लावित रहती थी।

अजीतसिंह दुर्गा की भांति ही प्रेम के सत्य, शिव और सुन्दर रूप से ओत-प्रोत था या नहीं, यह कहना कठिन है। पुरुष-जाति की महत्ता स्त्री-जाति की महत्ता के सम्मुख इस दृष्टि से अभी तक तो पनप नहीं सकी; आगे भी पनपना तनिक कठिन ही है। कोमल-मानस स्त्री जाति की विशेषताएं अपनी ही हैं, उसमें यदि दोष की कालिमा न लगे तो वह सदा पवित्र ही रहती हैं। यही कारण है कि 'स्त्री-जाति समाज-शक्ति का प्राण है।' रूप-रंग की विभिन्नता, आचार-विचार की अनेकता, काल, देश और रूढ़ियों की विविधता होने पर भी सारा मनुष्य-समाज एक सूत्र में पिरोया हुआ सा है। एक व्यक्ति की स्वतन्त्र सत्ता कुछ भी नहीं। समाज-शक्ति के सहारे ही सब का व्यक्तित्व, सब का सौख्य और सब का निर्वाह है। यह सामाजिक शक्ति स्त्रीजाति से ही प्राप्त होती है। जितना अत्याचार, जितनी उच्छृङ्खलता, जितने युद्ध, जितनी वासना पुरुष जाति की ओर से फैलाई और बढ़ाई जाती हैं, यदि स्त्री जाती न हो तो उनका नियन्त्रण करने की शक्ति समाज में न रहे। स्त्री-जाति प्रेम की विभिन्न अवस्थाओं द्वारा समाज को चलाती है, उसे जीवित रखती है। माता-पिता के प्रति भक्ति-रूप में स्त्री-जाति अपना प्रेम प्रकट करती है। पति में निष्ठा रखकर स्त्री मनुष्य-समाज को अपूर्व संयम में रखती तथा बल प्रदान करती है। पति की शक्ति केन्द्रित होने से समाज की शक्ति केन्द्रित होकर दृढ़ होने लगती है। स्त्री जाति की पति पर अनुरक्ति, सन्तान से ममता, दुःखियों पर करुणा, दुष्टों के प्रति उग्ररूपता तथा उचित स्थान पर

और जीवमात्र पर तथा मनुष्य-समाज को नियन्त्रण में रखने वाला अनेक शक्तियों के रूप हैं। यद्यपि यह ठीक है, तो भी इसमें सन्देह नहीं कि अजीतसिंह भद्र तथा श्रेष्ठ पुरुष था।

दुर्गा दान-पुण्य बहुत किया करती थी। बूंदी में ऐसा कोई भी न था, जिसने दुर्गा को आशीर्वाद न दिया हो। सम्बन्धी तथा प्रजा के लोग सब उसका सम्मान करते थे। बूंदी में आनन्द का स्रोत उमड़ा हुआ था। पर असंयम लोग सदा से ही प्रेमामृत में विष घोला करते हैं, क्योंकि "मनुष्य मरुभूमि में मृग मरीचिका के पीछे दौड़ता फिरता है। वह आशा की छलना में डूबकर 'यह सुख है, यह सुख है' कहता हुआ उन्मत्त की भांति सुखाभास का पीछा करता है। सैंकड़ों बार ठगा जाकर भी नहीं सीखता, असंयम तथा उच्छृंखलता से थपथपाया हुआ निश्चिन्त होकर बेखबर सोता है। दुरन्त काल पल-पल में आयु हरण करता है, तो भी नित्य नई नई वासनाएँ हैं, नई नई कल्पनाएँ हैं, नए नए लाभास के लिये उत्तेजना है।"

दुर्गा की एक छोटी बहिन थी, जिसका विवाह उदयपुर के राजा अमरसिंह से होने वाला था। जब उसके विवाह के दिन समीप आये तो दुर्गा ने पति से निवेदन किया—स्वामिन्, यदि आज्ञा हो तो मैं कुछ दिन के लिये जयपुर हो आऊँ, माता जी ने बुलाया है। अजीतसिंह ने हँसते हुए कहा—बड़ी प्रसन्नता से जाओ, किन्तु विवाह के अनन्तर मैं लेने आऊँ या तुम स्वयं आ जाओगी? दुर्गा ने उत्तर दिया—बहिन की डोली जाते ही मैं स्वयं सेवा में उपस्थित हो जाऊँगी, आपको कष्ट उठाना न पड़ेगा।

दुर्गा जयपुर पहुंची। वहां बड़े समारोह से विधि-पूर्वक विवाह

सम्पन्न हुआ। पर वहाँ कुछ और ही होने को था। रूप के पीछे अन्धा हुआ पुरुष कर्तव्य और अकर्तव्य न सोचता हुआ मनमानी कर बैठता है, उसका परिणाम कितना विषाक्त और घातक है, यह समझता हुआ भी नहीं समझता। राना अमरसिंह ने स्त्रियों का रूप देखकर एक दिन दासियों से यों पूछा—यहां सर्वाधिक सुन्दरी कौन है ? दासियों ने उत्तर दिया—जिसका आपने पाणिग्रहण किया है, उसका रूप किसी से कम नहीं। पर राना ने हठ किया। उसका दुराग्रह देखकर एक ने कहा—यहां सब से अधिक रूपवती आपकी बड़ी साली है, उसका नाम दुर्गा है, वह बूंदी नरेश अजीतसिंह से ब्याही गई है। उसका मुख पूर्णिमा के चन्द्रमा की भांति सुन्दर है, और नेत्र कमल के समान सुहावने हैं, नख से शिख तक सुषमा की प्रतिमा हैं, ऐसा रूप संसार भर में कठिनता से मिले। अमरसिंह का चित्त चंचल हो उठा, उसने सोचा—किसी प्रकार दुर्गा को देखना चाहिये। उसने दासियों को प्रलोभन दिया, कुछ अनुनय-विनय की। लोभग्रस्त दासियां मान गईं। उन्होंने दुर्गा को दिखा दिया।

अमरसिंह पागल हो उठा। दुर्गा का रूप देखकर उसकी बुद्धि जाती रही। वह उसका बहिनोई तो बन ही चुका था, उसने बेखटके दुर्गा के पास जाकर दुर्गा की बांह पकड़ ली। यह सर्वथा सत्य है कि 'विषम विधिकृत संसारचक्र में मानव फिर रहे हैं, वे वासना और तृष्णा से सदा घिरे रहते हैं, उनका परिणाम बस मृत्यु है। तृषा आशा और इन्द्रिय-लालसा उन्हें अन्त को रुलाती है।'

छोटा बहिनोई बड़ी साली को स्पर्श करने का दुःसाहस करे ! इतनी नीचता ! अमरसिंह का आचरण उसे निन्दनीय तथा घृणित प्रतीत हुआ। दुर्गा ने अग्निमय नेत्रों से अमरसिंह की ओर

देखा, अमरसिंह की आकृति स्पष्ट दूषित थी, मलिन हृदय के कुत्सित भाव मुख पर छाया की तरह दिखाई दे रहे थे। रानी को बड़ा क्रोध आया, वह प्रचण्ड हो उठी। उसने अमरसिंह का हाथ झटककर सिंहनी की भाँति गर्जते हुए कहा—अभागे! मूर्ख! यह तूने क्या किया! क्या तू नहीं जानता कि मैं बूंदी के अधीश की रानी हूँ, जहाँ की स्त्रियां दूसरे पुरुष को देखना तक अनुचित समझती हैं! नीच! पापी! मैं तुझे इस अपराध का दण्ड अवश्य दूंगी!

यह कहकर उसने तत्काल ही पास रखा तमंचा उठाकर बारूद भरना आरंभ किया। अमरसिंह के काटो तो शरीर में रक्त नहीं, नितान्त भयग्रस्त, जड़, अचेत सा। उसे ऐसी संभावना न थी कि रानी इतनी क्रुद्ध हो जायगी। उधर रनिवास में एक बार ही खलबली मच गई। दुर्गा की माता तुरन्त ही भागी हुई आई। उसने आते ही सकरुण शब्दों में दुर्गा से कहा—पुत्री, इसे क्षमा कर दे, आखिर तेरा बहिनोई है, अज्ञानी, मूर्ख, चंचल है। तेरी स्नेहमयी बहिन का आज ही तो विवाह हुआ है! क्या तू उसे आज ही विधवा बनाने लगी है? बेटी, मेरी बात मानकर, इसे क्षमा कर दे, पुत्री, तमंचा रख दे। इतना कहकर दुर्गा की माता ने दुर्गा के पांव पकड़ लिये।

दुर्गा ने कहा—माता, यह पापात्मा अवश्य ही दण्डनीय है। मैं अब बूंदी की लाज हूँ, तुम्हारी पुत्री नहीं। इसने तुम्हारी पुत्री का अपमान नहीं किया, अपितु बूंदी की रानी का अनादर किया है। मैं अपनी ओर से तो इसे क्षमा कर सकती हूँ, किन्तु बूंदी के राजा इस अपमान को कदापि न सह सकेंगे। मन तो कहता

है कि इसका यहीं वध कर दिया जाय, किन्तु तुम्हारी आज्ञा मानकर मैं इसे दण्ड नहीं देती, अपना हाथ रोकती हूँ। फिर उत्तेजित होकर रानी ने कहा—पर इसने जिस हाथ का स्पर्श किया अब उसे काटकर फेंक देना ही ठीक है। अब यह इस योग्य नहीं कि बूंदी के पवित्र राज्य की सेवा कर सके! अब मैं पलभर के लिये भी यहां ठहर नहीं सकती! इतना कहते कहते दुर्गा बहुत उद्वेलित हो गई। उसकी आंखें अंगारे की भांति लाल हो गई।

फिर रानी ने अपनी सखी से कहा—सखि, कटार ले आ, अमरसिंह ने जिस हाथ का स्पर्श किया है, मैं उसको अभी काट दूं। रानी का मुख दमक उठा, सखी सहम गई, दुर्गा की माता चकित थी, अमरसिंह भूमि में गड़ सा गया था, चुप, मानों साँप सूंघ गया हो। सिंहनी को छेड़कर उसने विपत्ति मोल ले ली थी। सखी ने कुछ आगा पीछा किया। दुर्गा ने कड़ककर कहा—क्यों? तू अपनी रानी की आज्ञा नहीं मानती? सखी रोने लगी और पांव पर गिर पड़ी। दुर्गा उत्तेजित थी, फिर भी उसने मुख पर हँसी की रेखा दौड़ाते हुए कहा—ऐसे अवसर पर कोमलभाव प्रकट करना ठीक नहीं; जा, कटार ले आ।

सखी निरुत्तर थी, चुपचाप कटार उठा लाई। माता रोकती ही रह गई कि शीघ्रता से कटार दाएं हाथ में लेकर, बाएं हाथ को, जिसे अमरसिंह ने छुआ था, एक झटके में काट दिया। हाथ एक ओर आ गिरा। रक्त की धारा बहने लगी। यदि कोई पुरुष भी होता तो वेदना और क्षीणता के कारण अचेत हो जाता; किन्तु अनुरागी दुर्गा विचित्र स्त्री थी। उसने दासियों से कहा—अभी

मेरा घोड़ा ले आओ, और सब मेरे साथ बूंदी चलो, हमारे लिये अब यहां का अन्न-जल खाना पाप है, यहां बूंदी-नरेश का घोर अपमान हुआ है। अश्व प्रस्तुत हो गए। रानी की बांह से रुधिर वह रहा था, वह उसी तरह कूदकर घोड़े की पीठ पर सवार हो गई, दाएं हाथ में केवल लगाम थी। दुर्गा की माता का हृदय और नेत्र रो रहे थे, पर वह विवश थी, दुर्गा के क्षत्रियत्व को जानती थी, उसे जाने से भी न रोक सकी।

दुर्गा चल पड़ी, बूंदी के सब लोग उसके पीछे थे; सब उत्तेजित, त्रस्त, क्रुद्ध, हैरान और चुप। चारों ओर शून्य ही शून्य प्रतीत होता था।

उधर अजीतसिंह रानी के चले आने से अशान्त सा था। वह आखेट तथा भ्रमण के लिये जयपुर की ओर ही आ रहा था। किसी ने आकर दुर्गा को महाराज का समाचार सुनाया। रानी ने एक दासी को बुलाकर कहा—तू जाकर महाराज को अभी मेरे पास बुला ला, मैं उनसे कुछ बात करना चाहती हूं। दासी दौड़कर अजीतसिंह के पास पहुंची। राजा ने चकित होकर पूछा—दासी, तू यहां कहां? रानी कहां है? तू इतनी घबराई हुई क्यों है? दासी ने कहा—महाराज, मुझे विशेष समाचार बतलाने की आज्ञा नहीं, रानी जी थोड़ी दूर पर आपकी प्रतीक्षा कर रही हैं।

राजा तुरन्त रानी के पास पहुंचा। उसने देखा कि रानी का सारा शरीर रक्त से सिंचा हुआ है, एक बांह हाथ से रहित है, दूसरे हाथ में घोड़े की लगाम है। अपनी प्रिय रानी की यह दशा देखकर राजा की चीख निकल गई। उसने कहा—ओह! यह क्या हुआ! क्या मैं स्वप्न तो नहीं देख रहा! यह आपत्ति कैसे आई। दुर्गा ने

कहा—प्राणपति, धैर्य और सन्तोष से मेरे तथा बूंदी के अपमान की बातें सुनिये। इसके अनन्तर रानी ने आदि से अन्त तक सारा वृत्तान्त सुना दिया।

राजा ने पानी मंगाकर, रानी को घोड़े से उतारकर, रक्त को धोया। तब रानी का सिर घूमने लगा और वह अचेत हो गई। राजा ने उसे डोली में लिटाकर सेवा-सुश्रूषा आरम्भ कर दी। साथ ही मन ही मन यह प्रण कर लिया कि जब तक अमरसिंह को समाप्त न कर दूंगा तब तक दुर्गा के पास न आऊंगा। इतना सोचकर वह घोड़े पर सवार होकर जयपुर की ओर चल दिया। दासियां रोती हुई रानी की देखभाल में लगीं। सेवक-गण भय और आतंक तथा दुख और आवेग से किंकर्तव्यविमूढ़ थे।

उधर राना अमरसिंह ससुराल से विदा होकर अपने देश को चल दिया था। अजीतसिंह को ये लोग मार्ग में मिले। सब ने अजीतसिंह का आदर-सत्कार किया। उसने राना अमरसिंह से भेंट करनी चाही। पहले तो अमरसिंह के साथी शंकित हुए, क्योंकि उन्हें दुर्घटना का पता ही था, पर फिर भी उन्होंने यह सोचा कि कदाचित् अजीतसिंह को इस घटना का पता ही न हो, रानी से इसकी भेंट ही न हुई हो। वे लोग इस प्रकार सोच ही रहे थे कि अजीतसिंह घोड़े को एड़ लगाकर तुरन्त अमरसिंह के पास पहुँचा। उसने जाते ही अमरसिंह से कहा—बूंदी के अपराधी, सावधान, जिस हाथ से तूने रानी का अपमान किया है, मैं उसे काट दूंगा। अमरसिंह घबरा गया। वह संभलने भी न पाया था कि अजीतसिंह ने भाले का भरपूर हाथ अमरसिंह के वक्ष में मारा, वह भूमि पर गिरकर छटपटाने लगा। दूसरे ही क्षण अजीतसिंह

उसके पास आकर उसका हाथ काटकर वहां से चल दिया। अमरसिंह की सेना में से किसी को साहस भी न हुआ कि अजीतसिंह को रोक भी सके, अमरसिंह की हत्या का प्रतिशोध लेना तो एक ओर रहा। सारी सेना में खलबली मच गई। नववधू विधवा हो गई। दुर्गा की छोटी बहिन और अजीतसिंह की साली वह बेचारी, जिसने अभी पति का मुंह भी न देखा था, पालकी से नीचे उतरकर पति के शव के पास आई। उस दुखिया ने राना को उठाकर गोद में रख लिया। उसने मनुष्यों को संकेत करके कहा कि चिता तैयार करो। वह रो रही थी, पर बोल नहीं सकती थी। उसके हृदय में आहों की प्रबल नदी बह रही थी, किन्तु उसके मुंह से आह तक न निकली। उस अभागिन की करुणा-पूर्ण दशा का वर्णन करना विधाता की सामर्थ्य से भी बाहर है। आह ! लेखनी भी रो-रोकर आंसुओं के समुद्र में डूबी जाती है।

लोगों ने बहुत रोका, किन्तु अल्पायु, निर्दोष, नव-विवाहिता, राजपुत्री, राजवधू पर विधि-वश विधवा बाला अमरसिंह के शव को गोद में लेकर चिता में बैठ गई। जब चिता में अग्नि लगाई गई, उस समय सब चीख-पुकार कर रो रहे थे। राज-पुत्री ने यों कहा—हे प्राणाधार, इसमें तुम्हारा दोष नहीं, मेरे भाग्य का ही दोष है, जिस पल में तुम्हारे मन में उस असत् संकल्प का उदय हुआ, जिसने सुख और आशा को दुःख और निराशा में बदल दिया। मनुष्य क्या सोचता है और क्या होता है, कर्म की गति को कोई नहीं जान सकता। मैं कम सुन्दर नहीं थी कि तुमने परस्त्री की ओर दृष्टि डाली, परन्तु ऐसा होना ही था, हे अन्तर्यामिन प्रभो, तेरा नियम अटल है, तेरी अभिलाषा पूर्ण हो। इतना कहते

कहते अग्नि तीव्र हो उठी और जीती-जागती कोमलांगी बाला देखते-देखते जल कर भस्म हो गई। उस हृदय-विदारक दृश्य का ध्यान आते ही कौन अभागा चार आंसू न बहाएगा! किस प्राणी का हृदय फूट-फूटकर न रोएगा। हा! निरपराधिन, तुझ बेचारी पर विधाता इतना कठोर क्यों हुआ?

अणुमात्र भी बुरे विचार से सजा-सजाया उद्यान उजड़ गया। अमरसिंह की तनिक सी गंदी भावना ने दुर्गा की बांह कटवाई, अमरसिंह का संहार कराया, और करुणा-पात्र निर्दोष कन्या का प्राणान्त किया।

अजीतसिंह को इतना क्रोध उचित था या नहीं, इसकी चर्चा को छोड़ यह कहा जा सकता है कि यह वृत्तान्त कम शिक्षापूर्ण नहीं। यदि हम इससे रंच-मात्र भी कुछ सीख सकें, तो दुर्गा की बहिन का बलिदान चरितार्थ हो। अत्यन्त दुःखान्त होते हुए भी यह एक आदर्श है, यह महिलाओं का गौरव है। जो व्यक्ति अनेक विघ्नबाधाओं का दृढ़तापूर्वक सामना करके, परमात्मा की रचना के रहस्यों को समझते हुए कर्तव्य मार्ग से विचलित नहीं होते और इस पथ पर अबाधगति से चलते चले जाते हैं, वे आदर्श कहलाते हैं, उनका चरित्र गौरव-पूर्ण होता है। जीवन-पथ पर अग्रसर होते हुए लोगों को कई प्रकार के काम, क्रोध, लोभ, मोह और अहंकार आदि विकार रोकने का प्रयत्न करते हैं। मनुष्य का मन स्वतन्त्र हो कर कई प्रकार के अकर्तव्य कराने की बलीयसी प्रेरणा करने लगता है। अस्थिर-प्रकृति लोग तुरन्त उसके वशीभूत हो जाते हैं, किन्तु ऐसे समय में आदर्श व्यक्ति स्थिर रहते हैं और भविष्य में दूसरों को भी सावधान करके सन्मार्ग पर चलाते ...

बनते हैं। दुर्गा ऐसी ही देवी थी। आदर्श तथा गौरवमय मनुष्य का लक्ष्य ऊँचा होता है। वह मानव-हृदय की अनेक भावनाओं को हस्तामलकवत् देखकर मानव सभ्यता को पवित्र और उज्ज्वल बनाकर धर्म तथा पुण्य की अविरल धारा बहा देता है। उसके द्वारा वासना और स्वार्थ की सत्ता नष्ट होती है। उसके आगे मनुष्य समाज की आत्मा अत्यन्त नत हो जाती है। इस प्रकार की विशेषता से विभूषित दुर्गा के आगे संसार क्यों न झुके।

आदर्श को पाकर तमोगुण-प्रधान पशुवत् लोग भी मनुष्य बन जाते हैं। यदि आदर्श सामने न हो तो वासना आदि के प्रभाव की पराकाष्ठा होने से प्राणि-मात्र में हाहाकार मच जाए। जिस प्रकार अत्यन्त अन्धकार-पूर्ण मार्ग पर चलते हुए पद पद पर ठोकरें खाना और अज्ञात गर्त्तों में गिरकर दुःख-पूर्ण विनाश को प्राप्त होना अवश्यंभावी है, उसी प्रकार गौरव-पूर्ण व्यक्तित्व के अभाव में मनुष्य का पतन और मरण अवश्य होकर रहता है। उसके साथ अन्य निर्दोष तथा निर्मल प्राणी भी हानि उठाते हैं। सचमुच ऊपर के वृत्तान्त में ऐसा ही हुआ।

प्रभु करे हम सब लोग सदा गौरवान्वित पथ का अनुसरण करें तथा कुत्सित भावनाओं से दूर रहकर विनाश की खाई में न गिरें।

राजबाला

राजपूताने के इतिहास में राजपूत महिलाओं की वीरता की कथाएं स्थान स्थान पर पढ़ने को मिलती हैं। प्रत्येक राजपूत का जीवन उसकी स्त्री के जीवन के बिना अधूरा और असम्पूर्ण दीखता है। यद्यपि प्रत्येक राजपूत अपनी अकेली वीरता को लेकर ही जगत् में जीता और मरता था, तो भी जहां उसकी पत्नी की वीरता उसकी वीरता से मिल गई, वहां दोनों की वीरता जगत् में अपूर्व हो उठी। वीरत्व के अतिरिक्त राजपूत युवक कैसे संयमी थे, इस विषय में अभी तक कम कहा गया है। आगे की पंक्तियों में एक संयमी, तपस्वी, दृढ़ प्रतिज्ञ राजपूत जोड़े का वर्णन है। जब तक वे प्रतिज्ञा से उऋण न हो गये, तब तक पूर्ण संयम में रहे।

अमरकोटा रियासत की राजधानी सोढ़ा थी। वहां के राजा के पास अनारसिंह नामक एक प्रसिद्ध वीर थे। अनारसिंह के पास बहुत बड़ी सेना और एक जागीर थी। प्रत्येक क्षत्रिय वीर के समान ही इन्होंने अपनी जागीर का विस्तार अपनी ही भुजाओं के बल से किया था। कभी कभी ये अपनी सेना ले जाकर लूट-मार भी किया करते थे। एक बार राजकोटा के राज्यकोष को कहीं से सिपाही अपनी रक्षा में ला रहे थे। अनारसिंह ने सेना-सहित उस पर धावा बोल दिया, पर राज्य के सिपाही भी बड़े वीर थे।

खूब युद्ध हुआ। अन्त में अनारसिंह हार गया। राजा को जब पता लगा तो उसने जागीर छीनकर अनारसिंह को देश निकाला दे दिया।

अनारसिंह जब अपनी जागीर से निकाल दिया गया तो वह एक गांव में जाकर बस गया। अपमान और दरिद्रता के कारण उसने कुछ दिवस के अनन्तर ही प्राण त्याग दिए। अनारसिंह की पत्नी अपने एकमात्र पुत्र अजीतसिंह को बड़े यत्न से पालने लगी। पिता की मृत्यु के समय अजीतसिंह १३ वर्ष का था। उसकी माता ने मेहनत मजदूरी करके उसे पाल-पोसकर बड़ा किया। अजीतसिंह के पूर्ण युवा होने से पहले ही उसकी माता का देहान्त हो गया। अजीत संसार में बिना घर, बिना धन और बिना माता पिता के अकेला रह गया। उसे अपना बोझा आप ही संभालने के लिए कठिन परिश्रम करना पड़ा।

बैशालपुर के एक जागीरदार ठाकुर प्रतापसिंह थे। इनकी एक पुत्री थी, जिसका नाम राजबाला था। यह कन्या बचपन से ही बड़ी धैर्यशालिनी, बुद्धिमती और चतुर थी। पिता ने इसकी शिक्षा-दीक्षा का भी यथोचित प्रबन्ध किया था। ठाकुर प्रतापसिंह की ठाकुर अनारसिंह से बड़ी मित्रता थी। अनारसिंह के पुत्र अजीतसिंह के साथ राजबाला की सगाई की बात बचपन में ही पक्की हो चुकी थी। राजपूत बालक और बालिकाएं बात के बड़े धनी होते थे। एक बार माता-पिता ने कन्या के लिये जिसे वर दिया, कन्या उससे ही विवाह कराना ठीक समझती थी। उसके सिवा वह किसी दूसरे मनुष्य को देखना तक भी अच्छा न समझती थी।

अजीतसिंह जब युवा हुआ तो उसने एक चतुर दासी के हाथ

राजबाला का मन जानना चाहा कि क्या वह उससे विवाह करना स्वीकार करेगी। राजबाला ने कहला भेजा कि मुझे तो अजीतसिंह से ही विवाह करना है, फिर वह चाहे निर्धन ही क्यों न हो। धन तो आता जाता ही रहता है, परन्तु राजपूत कन्या का विवाह एक बार ही होता है। अजीतसिंह वीर है, सुन्दर है और राजवंश में है, फिर मैं उनके बिना और किसी को नहीं वर सकती, परन्तु इस विषय में मैं परवश हूं। अजीतसिंह को चाहिये कि वे मेरे पिता जी से कहें। वे अवश्य ही मान लेंगे। मैं यदि विवाह करूंगी तो उन्हीं के साथ, अन्यथा प्राण दे दूंगी। दासी यह संदेशा लेकर अजीतसिंह के पास चली गई।

अजीतसिंह राजबाला की इच्छा जानकर अतीव आह्लादित हुआ; उसने राजबाला के पिता प्रतापसिंह से कहला भेजा कि वह विवाह करना चाहता है। क्या वे अपनी पुत्री राजबाला का विवाह उसके साथ करने को उद्यत हैं? ठाकुर प्रतापसिंह ने उत्तर में कहला भेजा कि अजीतसिंह से हम विवाह तो करने को तत्पर हैं, किन्तु उसके पास राजकुमारी के भरण-पोषण के लिये भी तो कुछ चाहिये। यदि वह बीस सहस्र रुपया इकट्ठा करके लावे तो हम विवाह कर देंगे।

अजीतसिंह को विवाह की तो आशा हुई, पर रुपये की बात सुनकर बड़ी चिन्ता हुई। उसके पास तो धन था ही नहीं, किन्तु उसके सम्बन्धी या मित्रों के पास से भी कुछ मिलने की आशा नहीं थी। बहुत कुछ सोच-विचारकर अन्त में उसे अपने पिता जी के मित्र एक बनिये की स्मृति हो आई। वह तुरन्त उस बनिये से मिलने के लिए जैसलमेर गया। वहां जाकर उससे अपनी सारी

कथा कही। बनिये ने सारी बात समझकर आश्वासन दिया और एक शर्त पर रुपया देना स्वीकार किया; उसने कहा—२० हज़ार मैं देता हूँ तुम विवाह कर लो। पर जब तक तुम मेरा रुपया ब्याज सहित न लौटा दो तब तक तुम पूर्ण ब्रह्मचर्य से रहना। यदि यह प्रतिज्ञा करते हो तो ले जाओ। लिखा-पढ़ी करने की कोई आवश्यकता नहीं।"

राजपूत बात के बड़े धनी होते थे। राजपूत की प्रतिज्ञाएं प्राणों के साथ जाती थीं। राजपूत का प्रण अवश्य पूरा होता था। जो बात आज कागज़-पत्र लिखकर भी सिद्ध नहीं होती, वह राजपूत के वचन कह देने मात्र से पूरी हो जाती थी। अजीतसिंह ने पहले तो कुछ सोचा, फिर दृढ़ता-पूर्वक प्रतिज्ञा कर ली और २० हज़ार रुपया ले लिया। ठाकुर प्रतापसिंह ने धूम-धाम से राजबाला का विवाह अजीतसिंह के साथ कर दिया। विवाह के अनन्तर दोनों आनन्द से रहने लगे। सोते समय अजीतसिंह अपने पास एक तलवार रख लेते, क्योंकि राजपूत खड्ग का अतीव आदर करते थे। कुछ दिन तक राजबाला यह कौतुक देखती रही। अन्त में उससे रहा न गया। उसने साहस करके एक दिन अजीतसिंह से तलवार रखने का कारण पूछा।

पहले तो अजीतसिंह ने बतलाने से टालमटोल किया, पर अन्त में राजबाला को धनी से की हुई प्रतिज्ञा सुना दी। राजबाला बड़ी बुद्धिमती थी। उसने धैर्य से सब बात सुनकर कहा—ऐसी अवस्था में हमें यहां से निकल चलना चाहिये और जाकर कहीं नौकरी करनी चाहिये। मैं भी पुरुष का वेश पहनकर आपके साथ चलूँगी। साला-बहनोई कहकर हम कहीं नौकरी करके यह ऋण चुका देंगे।

बीस सहस्र रुपया थोड़ा नहीं होता। निर्धन मनुष्य के लिए तो जीवनभर में हजार पांच सौ जोड़ना भी कठिन होता है। बीस हजार ब्याज सहित चुकाना तो जीवन भर में एक निर्धन व्यक्ति के लिए कठिन था। पर जहां बुद्धिमती त्यागशीला पत्नी पति के अंग संग है, जहां दोनों की बुद्धि एक है, वहां बीस हजार तो क्या, बीस लाख भी चुकाना पड़े तो भी कोई न कोई उपाय बन ही जायगा। लोगों ने जीवन भर में क्या क्या बड़े काम नहीं किए, सन् १९२१ ईस्वी में महात्मा जी ने कहा था कि एक करोड़ रुपया एक साल में जमा कर लूंगा। बम्बई में नियत तिथि के सायंकाल को विदेशी कपड़े की बड़ी भारी होली जलाई जानी थी। उस सायंकाल तक एक करोड़ रुपया जमा हो जाना चाहिये था। महात्मा जी लंगोटी पहने हुए उठे। विदेशी कपड़ों को दियासलाई लगाने से पहले उन्होंने घोषणा की कि आज तक एक करोड़ कुछ लाख रुपया जमा हो गया है। लोग आश्चर्य कर उठे।

अजीतसिंह और राजबाला ने भी इसी प्रकार की दृढ़ प्रतिज्ञा की थी। उनके २० हजार रुपये जमा करने पर ही उनका गृहस्थ-सुख निर्भर था।

दोनों उसी रात घोड़े पर सवार हो गये और घर से निकल कर चल पड़े। वे सीधे उदयपुर पहुंचे। राणा उदयपुर किले की दीवार पर खड़े थे। उन्होंने दोनों को बुलाकर उनका परिचय पूछा। अजीतसिंह अभी बोलने भी न पाये थे कि राजबाला ने प्रणाम करके कहा—महाराणा जी! ये मेरे बहनोई हैं।

राणा—तुम्हारा नाम क्या है?

अजीतसिंह—मेरा नाम अजीतसिंह है और इनका नाम गुलाबसिंह है, महाराज!

राणा—तुम्हारा यहां आना कैसे हुआ ?

अजीतसिंह—महाराणा जी ! हम वृत्ति की खोज में यहां आये थे सौभाग्य से आपके दर्शन हो गये हैं।

राणा—अच्छा ! तुम दोनों मेरे यहां रहो ! रहने को मकान और खान-पान के अतिरिक्त पाँच रुपये मासिक मिलेंगे।

दोनों ने सिर झुकाकर महाराणा को प्रणाम किया। नौकरी लग गई, पर पाँच रुपये मासिक से तो बीस हजार रुपया जीवन भर में एकत्र नहीं हो सकते थे। सब काम करते हुए भी दोनों चिन्तित रहने लगे। वर्षा बीत चुकी थी और दशहरे का त्यौहार धूम-धाम से मनाने की तैय्यारियां हो रही थीं। उदयपुर में क्षत्रिय लोग वीरता की परीक्षा के लिये एक जंगली भैंस को पकड़कर उससे युद्ध कर उसका वध करते थे। इस बार जंगली भैंस के स्थान पर एक सिंह आ फँसा था। सिंह का शिकार होने को था। कई दिन से सिंह भूखा रखा गया था।

राणा हाथी पर सवार होकर सिंह के शिकार को निकले। उन के पीछे पीछे अनेक राजपूत सरदार थे। अजीतसिंह और गुलाब-सिंह भी घोड़े पर सवार होकर राणा के पीछे पीछे चल रहे थे। जब एक बड़े भारी बाड़े के अन्दर राणा का हाथी और सब सवार पहुंच गए तो बाड़े में भूखे सिंह को छोड़ा गया। राणा की इच्छा थी कि सिंह को स्वयं ही मारें। सिंह को मारना वीरता का सब से बड़ा चिह्न था। राणा अभी सोच ही रहे थे कि सब ओर से घिरा हुआ भूखा सिंह स्वयं ही आगे बढ़ा। उसने उछलकर हाथी पर आक्रमण किया। वह हाथी के मांस का लोथड़ा नोचकर पीछे हट गया। मारे भय के राणा के हाथ से धनुषबाण भी छूट गया। हाथी चिंघाड़

कर भागने की सोचने लगा। सरदार लोग अपनी अपनी जान बचाकर इधर उधर छिपने लगे। सब को अपने अपने प्राणों की पड़ रही थी। सिंह का मुकाबिला था, भैंसे का नहीं। सिंह और भी उत्तेजित हो गया। उसने दूसरी बार झपट की तैयारी की। राणा घबराए हुए थे। सिंह का दूसरा आक्रमण होने को ही था। अजीतसिंह और गुलाबसिंह यद्यपि बहुत दूर खड़े थे, तो भी गुलाबसिंह यह सब बात देखकर अजीत से बोला, ठाकुर साहिब! सिंह दूसरी बार राणा पर झपट रहा है। इस बार राणा के प्राण संकट में हैं। अब उनके प्राणों की रक्षा का समय है। मैं चला। यह कहकर गुलाबसिंह ने घोड़े को एड़ दी। सिंह उछलने को ही था कि गुलाब ने भाले का एक भरपूर हाथ दिया। सिंह धरती पर जा गिरा। साथ ही उसने तलवार का वार कर उसकी गर्दन भी काट डाली। बाद में सिंह के कान और पूंछ काट कर वह तुरन्त वहां से भाग कर अजीतसिंह के पास जा पहुंचा और उसने अपने घोड़े की काठी के नीचे उन वस्तुओं को छिपा दिया। यह काम उसने इतनी फुरती से किया कि कोई भी यह बात न जान सका कि सिंह को किसने मारा है। अजीतसिंह तो सब कुछ देख ही रहा था, पर वह भी चकित था।

राणा ने सिंह को मरा हुआ जानकर मारने वाले का पता करना आरम्भ किया। पर सभी सवार झूठ-मूठ अपना अपना नाम बताने लगे। राणा ने सब से कहा कि मारने वाले ने इतनी शीघ्रता से यह काम किया है कि उसे मैं ठीक ठीक नहीं पहचान सका। तो भी मैंने उसे सिंह की ओर जाते हुए अच्छी तरह देखा है। सामने आने पर मैं पहचान सकूंगा। यह

एक एक सवार को अपने सामने से गुजरने दिया। जब गुलावसिंह राणा के सामने आये तो राणा ने पहचानकर कहा, 'युवक, क्या तुमने ही सिंह को मारा है ?'

गुलाब०—महाराज ! जिसे श्रीमान् कहें वही सिंह को मार सकता है। आपकी आज्ञा के अधीन ही तो सिंह की मृत्यु है।

राणा—वीर ! मैं उस समय यद्यपि पूरा-पूरा नहीं पहचान पाया, तो भी तुम्हें देखकर मैं समझता हूँ कि आज तुम्हीं ने मेरे प्राण बचाये हैं। मैं तुम्हें कुछ पहचान रहा हूँ। सच सच बात कहो। इतने में अजीतसिंह ने आगे आकर कहा—

अजीत—अन्नदाता, सिंह के कान और पूँछ नहीं हैं। मारने वाले ने कान और पूँछ भी काटकर प्रमाण के लिए रख लिए प्रतीत होते हैं।

राणा—क्या तुमने सिंह को मारा है ?

अजीत—महाराणा जी ! मैंने तो सिंह को नहीं मारा। पर सिंह का मारने वाला वही हो सकता है जिसके पास उसकी पूँछ और कान हों।

राणा—(गुलाब से) मैं यह भूल गया था कि यह अजीत तुम्हारे बहनोई हैं, तो तुम सिंह के कान और पूंछ दिखा सकते हो ?

गुलावसिंह ने तुरन्त घोड़े की जीन के नीचे से पूंछ और कान निकालकर राणा की सेवा में उपस्थित कर दिये। राणा ने प्रसन्न होकर गुलावसिंह की बहुत प्रसंशा की और उसे तथा अजीतसिंह को अपना अंगरक्षक बना लिया। उनकी वीरता से प्रसन्न होकर उन्हें बहुत कुछ पारितोषिक देने के लिए भी वचन दिया। उस दिन से गुलाब और अजीत की बड़ी प्रतिष्ठा होने लगी। उन्हें धन

मिलने लगा। अजीतसिंह और गुलाबसिंह दोनों दिन में इकट्ठे रहते थे, पर रात को अलग अलग हो जाते थे। रात को अजीत राजा के दरबार में रहता था और गुलाब राजा के महलों में पहरा देता था।

विवाह हुए पूरा एक वर्ष बीत चुका था। नई वर्षाऋतु फिर से आई थी। आकाश में बादल छा रहे थे। सन सन करके शीतल पवन चल रहा था। बिजली चमक कर विरहिणियों को तड़पा रही थी। उस समय राणा अजीत के संग थे। वे रनिवास की ओर जाते हुए बोले, "अजीत! तू जाकर अब आराम कर। मैं रनिवास में जाता हूँ।" रनिवास के फाटक पर ही गुलाबसिंह बैठा था, राणा के जाने पर गुलाबसिंह ने वर्षाऋतु की मलार रागिणी में विरह का गीत गाया। राग सुनकर रानी ने चकित होकर पूछा—महाराज! ये दोनों राजपूत जो आपके अङ्ग-रक्षक हैं मुझे तो स्त्री पुरुष प्रतीत होते हैं। गुलाब जो हमारे पहरे पर है, यह स्त्री प्रतीत होती है। किसी कारण से इनका रहस्य जानकर यदि कोई कष्ट हो तो दूर करना चाहिये।

राणा—(हँसकर) रानी! तुम क्या कहती हो! ये दोनों तो साला-बहनोई हैं। दिनभर इकट्ठे ही रहते हैं।

रानी—महाराज! आपकी बात सत्य है, पर मैं भी कुछ सोच कर ही कह रही हूँ। परीक्षा करने में तो कोई दोष नहीं?

राणा—अच्छा, पता करते हैं। इसमें क्या दोष है।

राणा ने अजीतसिंह और गुलाबसिंह दोनों को महल में ही बुला भेजा। दोनों घबराए हुए आये और राणा को प्रणाम करके खड़े हो गये।

राणा—सच सच बताओ, क्या तुम दोनों पुरुष हो ?

अजीत और गुलाब चुप रहते हैं।

राणा—सच सच कहो। डरो नहीं। तुमसे मैं बहुत प्रसन्न हूँ, निशङ्क होकर मुझे अपना भेद सुनाओ।

अजीत—अन्नदाता ! राजा सब का पिता होता है। हम आपके दास हैं, आप ही हमारे माता-पिता हैं। आपसे क्या छिपा रह सकता है ?

यह कहकर अजीतसिंह ने सारा हाल सुना दिया। राणा ने उसी समय गुलाब को दासी के साथ एक कमरे में भेज दिया और कहा कि उसे स्त्री-वस्त्र पहनाकर खूब आदर मान से रखो। राजबाला लज्जा से संकुचित होकर दासी के साथ चली गई। तब राणा ने अजीत की प्रशंसा करते हुए कहा—

राणा—राजपूत वीर ! मैं तेरे बाप दादों को जानता हूँ। ऐसा प्रण का धनी मैंने और कोई नहीं देखा। ऐसा योगी, सती-सती राजपूत कोई विरला ही होता है। तेरी पत्नी वीर महिला है। उसकी महत्ता की कोई तुलना नहीं कर सकता। धन्य है तुझे और तेरे माता-पिता को। अब आओ, प्रातःकाल मैं तुम्हें बुलाऊँगा।

प्रातःकाल महाराणा ने २० हजार रु० ब्याज समेत अजीत को देकर साहूकार के पास भेजा। साहूकार रुपये पाकर बहुत प्रसन्न हुआ। अजीतसिंह ने वहां से आकर राणा के पैरों में सिर रख दिया और कहा—"अन्नदाता ! आपकी दया से मेरी प्रतिज्ञा पूर्ण हुई।" महाराणा ने प्रसन्न होकर उन्हें बहुत सी जागीर दी। उनके लिए एक महल पृथक् बनवा दिया। राणा राजबाला को पुत्री के

समान स्नेह करते थे। उसे उन्होंने प्राण-रक्षक के पद से विभूषित कर दिया था। वह इसी नाम से उदयपुर में प्रसिद्ध थी। धन्य है ऐसी पतिव्रता वीर देवी, जिसने अपना सारा सुख, जीवन, तन मन धन अर्पण करके पति को दुःख से छुड़ाया, अपना भी उद्धार किया और राणा की भी प्राणरक्षा की। राजबाला का नाम राजपूताने की वीर बालाओं में सदा अग्रणी रहेगा। एक नारी अपने पति के लिए कितना उत्सर्ग कर सकती है, यह इस कथा से स्पष्ट हो जाता है। राजबाला और अजीतसिंह दोनों सच्चे राजपूत थे।

पन्ना धाय

राजपूतों का इतिहास भारत के मुख को तब तक उज्ज्वल करता रहेगा जब तक सृष्टि अपनी प्रकृति अवस्था में नहीं पहुँच जाती। राजपूत वीरों ने जिस प्रकार हँसते हँसते अपने प्राण देश रक्षा पर दिये हैं, राजपूत वीराङ्गनाओं ने जिस प्रकार अपने पुत्रों, भाइयों और पतियों को देश की रक्षा के लिये युद्ध में भेजा है, उसे पढ़ कर किस हिन्दू की छाती अभिमान से तन न जायगी। राजपूत जाति की उत्पत्ति अग्नि से हुई बतलाई जाती है। इस अग्नि से उत्पन्न हुए, वीरों के जीवन में भी अग्नि रहती थी और मृत्यु में भी अग्नि का संपर्क रहता था। राजपूत की मृत्यु शय्या पर हो जाय तो उसका बड़ा दुर्भाग्य माना जाता था। राजपूत लड़ता हुआ युद्ध में मरे, यही उसकी माता, पत्नी तथा सन्तान कामना करती थी। राजपूत महिलाएं अपने पतियों और पुत्रों का बलिदान करना जानती थीं, वे चिता में हँसते हँसते बैठकर अपने प्राणों का विसर्जन करना भी जानती थीं।

राजपूताने में सिसौदिया वंश सुप्रसिद्ध है। ये राजपूत सारे राजस्थान में उत्तम तथा कुलीन माने जाते थे। प्रातःस्मरणीय महाराणा सांगा इसी वंश के थे। महाराणा को अपने जीवन काल में अनेक युद्ध करने पड़े थे। उनके शरीर पर ८० घाव लगे थे और

तब भी वे युद्ध से हटते न थे। कौन विदेशी वीर ऐसा हुआ है कि जिसके हाथ, पैर, मुख, आंख सब कुछ युद्ध में नष्ट होता जा रहा हो और फिर भी वह युद्ध करने में उसी अदम्य तेज से उन्नत मस्तक होकर शत्रु को ललकारकर युद्ध करता जाय। आज पराधीनता के वश में पड़े हुए भारतवासियों को चाहे कोई कुछ कहे, परन्तु राणा सांगा की सन्तान को राजस्थान की भूमि पुकार पुकार कर देशभक्ति का पाठ सुना रही है पर दुःख है कि पराधीन भारत के पुत्रों को अपना विलासी जीवन छोड़कर उसे सुनने को समय ही नहीं है।

महाराणा सांगा जब इस पांचभौतिक शरीर को त्यागकर स्वर्ग को पहुंच चुके थे, तब उनके प्यारे चित्तौड़ में राजवंश के अन्दर गृह-कलह उत्पन्न हुआ। महाराणा के ज्येष्ठ पुत्र रत्नसिंह उसी गृहकलह के शिकार हो चुके थे। उनके कोई सन्तान न थी। राजगद्दी को सूनी देख रत्नसिंह के छोटे भाई विक्रमादित्य को सिंहासन पर बिठाया गया। विक्रमादित्य ने राजा बनते ही अपनी विलासप्रियता के कारण वीर-धर्म को एकबारगी तिलांजली दे दी थी। वह प्रतिपल भोगविलास में रत रहने लगा। राजपूत सरदारों के पुनः पुनः समझाने पर भी उसे अपने कर्तव्य का ध्यान न रहा। प्रायः वह राजपूत सरदारों से दुर्व्यवहार करता रहता था। इससे सरदार तंग आकर अपने अपने पदों को छोड़ते जा रहे थे।

वीरमाता महारानी कर्मवती ने भी विक्रमादित्य को बहुत समझाया, पर वह भोगविलास में अन्धा हो रहा था। वह माता की बात को कैसे सुनता? अन्त में ऐसी परिस्थितियों से लाभ उठाकर गुजरात के सुलतान बहादुरशाह ने चित्तौड़ पर चढ़ाई कर

दी। कर्मवती ने नीति समझकर उसे कुछ देकर उस समय संधि कर ली। विक्रमादित्य को फिर भी सुध न आई। उसका चाल-चलन बिगड़ता ही गया। धीरे धीरे सब सरदार उससे खिन्न हो गये।

अवसर पाकर बहादुरशाह ने फिर चित्तौड़ पर धावा किया। इस समय राजपूत लोग राणा से उदासीन हो रहे थे, परन्तु वीर माता कर्मवती ने बड़ी कुशलता से राजपूत सरदारों को एकत्रित किया और उन्हें अपना क्षत्रिय धर्म सुझाया। देश पर आपत्ति देखकर राजपूत सरदार एकत्र होकर युद्ध करने के लिये सन्नद्ध हो गये। विक्रमादित्य और उसके छोटे भाई उदयसिंह को बूंदी राज्य में भेज दिया गया, जिससे राजवंश सुरक्षित रहे। अब राजपूतों ने बहादुरशाह से डट कर युद्ध किया। राजपूत थोड़े थे और बहादुर शाह की सेना उनसे बहुत अधिक थी। राजपूतों ने केसरिया बाना पहना हुआ था। भयंकर युद्ध हो रहा था। एक एक करके राजपूत सरदार कट गये, दुर्ग की रक्षा न हो सकी। महारानी कर्मवती ने जब कोई उपाय दुर्गरक्षा का न देखा तो अनेक राजपूतनियों को साथ लेकर चिता में जलकर अपने प्राण दे दिये।

बहादुरशाह जीत गया। चित्तौड़ पर उसका अधिकार हो गया। उधर बहन कर्मवती की राखी को पाकर बादशाह हुमायूं बहादुरशाह से युद्ध करने को चल चुका था। बहादुरशाह को जब हुमायूं के आने का समाचार मिला तो वह चित्तौड़ से भागा। पर हुमायूं ने उसका पीछा किया। अन्त में बहादुरशाह समुद्र के किनारे मारा गया। इस समय अवसर पाते ही राजपूत सरदारों ने चित्तौड़ पर फिर अपना अधिकार कर लिया। राणा विक्रमादित्य को गद्दी पर बिठाया

गया और उसके छोटे भाई उदयसिंह को भी बूंदी से बुला लिया गया।

विक्रमादित्य यद्यपि सिंहासन पर बैठाया गया था, तो भी उसने अपने स्वभाव और चाल-चलन में तनिक भी परिवर्तन न किया। राजपूत सरदार उसके ऐसे क्षत्रिय-विरुद्ध व्यवहारों से तङ्ग आ चुके थे। इन्हीं दिनों राणासांगा के छोटे भाई कुंवर पृथ्वीसिंह का एक अनौरस पुत्र वनवीर भी राणा विक्रमादित्य का मुसाहब बना हुआ था। वनवीर नीति-कुशल था। उसने अन्दर ही अन्दर सब सामन्तों को अपने साथ मिलाना आरम्भ किया और राणा के विरुद्ध उन्हें भड़काना आरम्भ कर दिया। थोड़े ही दिनों में राजपूत सरदारों ने विक्रमादित्य को गद्दी से उतार दिया। उदयसिंह को गद्दी पर बैठने का अधिकार तो था, पर अभी आयु ६ वर्ष की ही थी। इसलिए काम चलाने के लिये कुछ काल तक वनवीर को ही राजसिंहासन सौंपा गया।

वनवीर कुलीन न था तथा पृथ्वीसिंह का औरस पुत्र न था। उसकी माता एक दासी थी। राजपूत सामन्तों को वनवीर ने धोखा दिया था। सरल स्वभाव राजपूत उसके वाग्जाल में फँसकर उसे राजा बना बैठे थे। उन्हें क्या पता था कि यह दुष्ट-बुद्धि पुरुष चित्तौड़ के राजवंश का अन्त करने को तुला हुआ है। वनवीर ने सिंहासन पर बैठते ही अपनी कुटिल नीति चलानी आरम्भ की। उसने धीरे धीरे राज्य-परिवार के सभी लोगों को अपने प्रभाव में कर लिया। वनवीर राजपूतों की सहायता से चित्तौड़ पर एकच्छत्र शासन करने लगा। उसकी आज्ञा को कोई भी टाल न सकता था। इतने पर भी वनवीर सन्तुष्ट न था।

उसके अन्दर एक आग सुलग रही थी, और वह सदा उसमें जलता रहता था। उसकी इच्छा थी कि चित्तौड़ के राजसिंहासन पर न केवल स्वयं ही राज्य करे प्रत्युत उसका वंश भी सदा के लिये उत्तराधिकारी बने। इस बात को उसने किसी पर प्रगट न किया था। इसके लिये वह हर समय चिन्तित रहता था।

बनवीर ने एक दिन सुअवसर देखकर आधी रात को अकेले ही अपना संकल्प पूरा करने का निश्चय किया। वह जानता था कि उसकी इच्छा का विघात करने वाला राज-परिवार में कोई नहीं। वीर राजपूत विक्रमादित्य के विरुद्ध हैं। उदयसिंह अभी बालक ही है। यदि इन दोनों को आज रात में ही समाप्त कर दूं, तो कल प्रातःकाल पूर्णतया स्वतन्त्र हो जाऊंगा। तलवार हाथ में लेकर बनवीर आधी रात को विक्रमादित्य की खोज में निकला। विक्रमादित्य सो रहा था। बनवीर ने तलवार के एक ही वार से विक्रमादित्य का सिर काट दिया। बनवीर की तलवार खून से रंग गई और रंग गया उस कमरे का फ़र्श। बिस्तर खून से लथपथ था। विक्रम की लोथ खून में डूबी एक ओर पड़ी थी। राजपूतों का कलङ्क वही नीच बनवीर प्रसन्नता से मूंछों पर हाथ फेर रहा था; मानो एक सुप्त देह की हत्या करके वह त्रिलोकी का चक्रवर्ती राज्य पा गया हो।

बनवीर की क्रोधाग्नि अभी शान्त न हुई थी। अभी एक और निरीह बालक की हत्या करनी शेष थी। बनवीर एक रात में ही उस राज्य को सदा के लिये अपने वंश के लिये पक्का करने की आशा बांधे हुए था। पर विधाता उसी एक रात में उस राज्य की रक्षा करने का प्रण किये था। वह बनवीर पर हँस रहा

था। पामर बनवीर को क्या पता कि उदयसिंह की मृत्यु के स्थान पर बनवीर की मृत्यु का लेख विधाता ने लिख दिया है। इस दासी-पुत्र की इस काली करतूत से एक दास ही उत्तेजित होकर इसका वैरी हो उठा था। राजकुमार की जूठ उठाने वाले एक दास ने बनवीर की खूनी तलवार देखी थी। वह सीधा उदयसिंह के कमरे में पहुंचा।

बेचारा उदयसिंह बचपन से ही पितृहीन हो गया था। माता कर्मवती भी चिता में जलकर अपने पुत्र को निराश्रित छोड़ गई थी। इस बीच में उदयसिंह को अपना दूध पिला पिलाकर जिस नारी ने माता के समान पाला था, वह थी पन्ना धाय। पन्ना के पास उस समय उसका अपना पुत्र भी सो रहा था। उदयसिंह दूसरे पलंग पर सो रहा था। दास, जिसे बारी भी कहते थे, सीधा पन्ना के पास गया और उसे उसने बनवीर की कृतघ्नता और नीचता का हाल सुनाकर विक्रम की हत्या का कुसमाचार दिया। उदयसिंह के प्राणों पर संकट आया देखकर पन्ना सतर्क हो उठी। उसी समय उस क्षत्राणी ने उपाय सोच निकाला। एक टोकरे में उदयसिंह को लिटा बारी को दे दिया और उसे अपनी प्रतीक्षा करने के लिये नदी तट का स्थान बता दिया। अधिक बातें न करके बारी को गढ़ से तुरन्त निकल जाने का संकेत करके वीरमाता पन्ना ने अपने पुत्र को राजकुमार उदयसिंह के बिस्तर पर लिटा दिया। कुछ क्षण के लिये पन्ना धाय का पुत्र राजकुमार बनकर राजशय्या पर शयन करने लगा। उस समय पन्ना पुत्र के मुख को आंखों से देख रही थी और आततायी बनवीर की आहट को कानों से सुन रही थी। उसकी मन की दशा का कौन अनुमान लगा सकता है?

इत्यारा बनवीर नंगी तलवार लिये हुए पन्ना के कमरे में घुसा। उस समय सर्वत्र अन्धकार था। राजमहल के लोग सो रहे थे। पन्ना और बनवीर ये दोनों उस कमरे में अपने अपने काम में सतर्क थे। बनवीर उदयसिंह की हत्या का निश्चय करके आया था, और पन्ना उदयसिंह को बचाने के लिये अपना सर्वस्व अर्पण कर चुकी थी। विधाता बनवीर के भाग्य पर अफसोस कर रहा था। बनवीर ने उदयसिंह का पता पूछा। पन्ना ने पलंग का संकेत करके पानी की ओर से अपनी आंखें फेर लीं। उस समय उस क्रूर बनवीर की खूनी तलवार बालक की गर्दन पर पड़ी और सदा के लिये उस बालक को मृत्यु सेज पर सुला गई। पर पन्ना! न रोई नहीं, चिल्लाई नहीं, खून का घूंट पीकर अपने पुत्र की लाश को लेकर नदी के किनारे पर अन्तिम संस्कार करने चल दी। संस्कार किया और बारी से उदयसिंह को लेकर उसकी रक्षा में लग गई। पन्ना यहां भी रोई नहीं। यह सच्ची क्षत्राणी थी।

पन्ना उदयसिंह को लिए हुए कई राज्यों में गई, पर सब ने बनवीर के डर के मारे उन दोनों को आश्रय न दिया। अन्त में वह कुंभलनेर पहुंची। यहां के किलेदार आशादेपुरा से पन्ना ने उदयसिंह की रक्षा के लिए प्रार्थना की। पहले तो वह घबराया। पर जब उसकी माता को पता लगा तो उसने पुत्र को बहुत लज्जित किया। माता ने उसे स्मरण दिलाया कि तुम्हारा यह राज्य तुम्हें राणासांगा की कृपा से ही मिला है। इस अनाथ बच्चे को आश्रय देकर तुम ऋण-परिशोध करो। तब उसने उदयसिंह और पन्ना को अपने यहां आश्रय दिया। वे वहां रहकर अपना

बल बढ़ाने लगे; क्षत्रिय माता के समान पन्ना उसे हर समय बदला लेने का उपदेश करती थी।

बनवीर निष्कण्टक राजा बन तो गया, पर वह अपनी नृशंसता, उद्दण्डता और अकुलीनता के कारण राजपूत सरदारों का विश्वास-पात्र न बन सका। धीरे धीरे सभी सरदार उससे बिगड़ गये। ठीक अवसर आने पर उदयसिंह का भी सब को पता लग गया। सभी सरदार उदयसिंह को पहचानकर उसकी शरण में आने लगे। उदयसिंह ने सब को साथ मिलाकर एक दिन चित्तौड़ पर चढ़ाई कर दी। उसने बनवीर की हत्या करके अपने भाई का बदला ले लिया। उदयसिंह चित्तौड़ के राणा बने और पन्ना ने अपनी आंखों से उनका राजतिलक देखा। बाद में उदयसिंह सदा पन्ना को अपनी माता समझकर उनके चरणस्पर्श किया करते थे।

पन्ना धाय की यही कहानी है। ऐसी स्वामि-भक्ति क्या संसार के किसी देश में देखने को मिलेगी कि माता अपनी संतान को अपने ही सामने कटवाकर अपने देश के राजकुमार की रक्षा कर रही हो? जब तक चाँद और सूरज आकाश में रहेंगे माता पन्ना का यह बलिदान भारत के इतिहास में स्वर्णाक्षरों से लिखा रहेगा। धन्य पन्ना धाय!

अहिल्याबाई

संसार में बहुत से ऐसे फूल भी खिलते हैं, जिनकी सुगंध और सौंदर्य को कोई नहीं जान पाता। वे किसी निर्जन दुर्गम स्थान में फूलकर अपनी शोभा से उस स्थान को प्रशंसित करते हैं और सुगंध से वहां के वायुमण्डल को भी सुवासित करते हैं। दो चार भौंरे तथा भौंरियां भी उनके सहवास से लाभ उठाती हैं। पर वे फूल वाटिका के फूलों के समान जनता से आदर नहीं पा सकते। इस में उनका दोष कुछ भी नहीं होता; स्थान की ही दुर्गमता उन्हें लोगों तक पहुंचने नहीं देती। जिस प्रकार फूलों के साथ प्रकृति का नियम है, उसी प्रकार मनुष्यों के साथ भी है। न जाने कितनी गौरवमयी विभूतियां गांवों में उदय होकर अपने गुणसौरभ से वहां की जनता रूपी वायु को सुगंधित करके अस्त हो जाती हैं, पर इतिहास उनके अस्तित्व को जानता तक भी नहीं। यदि भाग्य से किसी कुशल माली या पथिक को उनके गुण पता लग जाते हैं तो वह उन्हें जगत् के रंग-मंच में उत्तम अभिनेता के रूप में ला खड़ा करता है।

यहां जिस देवी का चरित्र लिखा जा रहा है, वह भी एक सुगंधित फूल था, एक गौरवमयी मूर्त्ति थी, जिसे यदि मल्हारराव सा कोई चतुर माली न मिलता तो जगत को उसकी सुगंध और गुणों

का कभी भी ज्ञान न होता। वह बिना जाने ही अपने गांव में अनेक अन्य बालाओं के समान जीवन बिताकर संसार से विदा हो जाती। उस पवित्र महिला का नाम अहिल्याबाई था। यह श्रेष्ठ नारी न केवल अपने माता पिता, सास ससुर, पति और सन्तान को ही अपनी सेवा से बहुमूल्य बना गई, प्रत्युत राज्य-शासन किस प्रकार करना चाहिये, इसका आदर्श भी संसार के सम्मुख रख गई है। भारतीय इतिहासकारों की भांति सर मालकम और विन्सेण्ट स्मिथ जैसे विदेशी ऐतिहासिकों ने भी अहिल्याबाई की जी भर प्रशंसा की है। उनका कथन है कि अहिल्याबाई के विषय में जितनी खोज की गई, उसके विषय में हमारा पूज्यभाव, श्रद्धा और भक्ति बढ़ती गई है। वह एक आदर्श शासिका थी। उसकी प्रजाप्रियता, नीतिमत्ता, जीवन की शुद्धता जैसी थी वैसी और कहीं कम मिलेगी।

औरंगाबाद के जिले के बीड़े तालुके में चोंट नाम का एक गांव है। वहां एक दरिद्र गृहस्थ मानकोजी शिंदे नाम का बसता था। उसी के यहां सन् १७३५ ईस्वी में एक कन्या का जन्म हुआ। यह कन्या ही भविष्य में इन्दौर की प्रसिद्ध महारानी अहिल्याबाई कहलाई। अहिल्या को माता-पिता ने बचपन में ही अक्षराभ्यास करा दिया था। वह धर्म की छोटी छोटी पुस्तकें पढ़ लेती थी। उसे महाभारत, पुराण और धर्म-ग्रन्थों के सुनने का बड़ा चाव था। बिना पूजा किये और धर्म-ग्रन्थ सुने वह भोजन न करती थी। वह माता पिता की आज्ञा में रहती थी! घर के सब काम अपने हाथ से करके वह बड़ी प्रसन्न होती थी। माता-पिता उसकी सेवा से बड़े प्रसन्न थे और उसे सदा आशीर्वाद दिया करते थे। अहिल्या ने धीरे-धीरे यौवन में पैर रखा।

एक किसान के घर में एक पुत्र उत्पन्न हुआ। उसका नाम मल्हारराव होल्कर रखा गया। वह अभी बच्चा ही था कि उसके पिता का देहान्त हो गया। उसकी माता अपने भाई के पास जाकर रहने लगी। मल्हारराव को उसकी माता और मामा ने ही पाल पोस कर बड़ा किया। एक दिन खेत में मल्हारराव सो रहा था कि एक फणियर काला नाग उसके मस्तक पर अपने फण फैलाकर छाया करने लगा। उसके मामा ने यह बात देखकर समझ लिया कि यह बालक एक दिन अवश्य राजा बनेगा, इसलिये महाराष्ट्र की प्रथा के अनुसार उसने अपनी कन्या गौतमी को मल्हारराव से परिणय सूत्र में बांध दिया। मल्हारराव और गौतमी खेती करके सुख से दिन गुज़ारने लगे।

मल्हारराव ने अपनी सैनिक प्रवृत्ति देखकर माता की आज्ञा लेकर सेना में नौकरी कर ली। उसकी सैनिक कुशलता और स्वामिभक्ति को सुनकर प्रसिद्ध बाजीराव पेशवा ने उसे पुनः बुलाया और उसके गुणों से प्रसन्न होकर उसे सन् १७२८ ईस्वी में खिलअत प्रदान की। उसे मालवा और खानदेश का सूबेदार नियत किया। मल्हारराव उन प्रान्तों से कर उगाह कर अपनी सेना का खर्च निकालकर शेष धन प्रतिवर्ष पेशवा के पास आज्ञानुसार भेज देता था। पहले ये प्रान्त निज़ामराज्य के अधीन थे। मल्हारराव ने इनको जीत कर अपने अधीन कर लिया था। इन प्रान्तों की व्यवस्था का भार उसने गंगाधर पेशवा पर डाल दिया, क्योंकि वह एक सेवा विश्वासपात्र, विद्वान तथा वीर मनुष्य था।

मल्हारराव का प्रायः सारा समय युद्धों और सैनिक देख-रेख में ही बीतता था। सन् १७२५ ई० में उनकी पत्नी ने एक पुत्र को

जन्म दिया। उसका नाम खंडेराव रखा गया। उसका उत्तम प्रकार से लालन-पालन होने लगा। पढ़ने लिखने के स्थान में बालक खेल-कूद तथा मार-पीट में ही अधिक लगा रहता था। वह शरीर का बलवान था तथा वीर स्वभाव का था। कभी कभी उद्दंडता भी कर बैठता था। मल्हारराव ने उद्दंडता कम करने के लिये उसे विवाह सूत्र में बांधने का संकल्प किया।

एक दिन मल्हारराव घोड़े पर चढ़कर कहीं जा रहे थे। अकस्मात् जब अहिल्याबाई के गांव के पास से निकले तो उन्होंने अहिल्याबाई को देखा। उन्होंने उसी समय उसे अपनी पुत्रवधू बनाने का संकल्प किया।

कन्या के माता-पिता के मानने पर अहिल्या का विवाह खंडेराव से हो गया। अहिल्या अपने पतिगृह में आकर उसी प्रकार पूजा-पाठ में लगी रही जिस प्रकार वह अपने घर में लगी रहती थी। सास-ससुर की सेवा करना वह अपना धर्म समझती थी। मधुर भाषण से उसने सभी के मन को मोह लिया था। ऐसी देवी को पत्नी रूप में पाकर धीरे धीरे खण्डेराव का सुधार होने लगा। वह अहिल्याबाई से धार्मिक कथाएं सुनकर धर्मात्मा होने लगा। उसने अपव्यय करना बन्द कर दिया। वह पिता के साथ युद्धों में जाने लगा। इस प्रकार पुत्र को सुधरते देखकर मल्हारराव अहिल्या से बहुत ही प्रसन्न रहने लगे। वे उसे राज-काज भी सिखाने लगे।

जब कभी वे युद्ध में अपने पुत्र सहित जाते तो पीछे सारा प्रबन्ध अहिल्याबाई करती। राज-प्रबन्ध को अहिल्याबाई ने इतना शीघ्र जान लिया था मानो विधाता ने राज्य करने के लिये ही

उसे उत्पन्न किया हो। अहिल्या महाभारत और पुराण आदि का पाठ करके दान पुण्य करती थी, बाद में राज्य काज करती थी इसी प्रकार दिन बीत रहे थे। उसके क्रमशः दो सन्तान उत्पन्न हुई। पुत्र का नाम मालीराव रखा गया और कन्या का नाम मुक्ताबाई। दोनों का लालन-पालन अहिल्याबाई ने बहुत अच्छी तरह से किया। दोनों बच्चे चन्द्रमा की कला के समान दिन-प्रति दिन बढ़ने लगे।

भरतपुर के जाटों ने बड़ा ऊधम मचा रखा था। उन पर मल्हारराव ने चढ़ाई कर दी। खंडेराव साथ ही थे। बड़ा भयंकर युद्ध हुआ खंडेराव इसी युद्ध में मारे गये। अहिल्याबाई, जिसका विवाह हुए अभी कुछ ही साल बीते थे, सदा के लिये पति विहीन हो गई। अहिल्या ने उस समय की प्रथा के अनुसार पति के संग ही चिता पर जल मरने की इच्छा की; परन्तु मल्हारराव ने उसे बड़ी कठिनता से रोका। उसने उसे यहां तक कहा कि यदि तू सती होगी, तो तुमसे पहले मैं अपनी हत्या कर लूंगा। अहिल्या श्वसुर की बात मानकर सती न हो सकी। वह सन्तान की पालना को अपना कर्तव्य समझकर उसमें लग गई। वृद्ध मल्हारराव पुत्र के शोक को, अहिल्या तथा उसकी कर्तव्य-परायणता देखकर भूल जाते थे। वे प्रायः युद्धों में ही रहते थे। राजकाज का सारा प्रबन्ध अहिल्या ही करती थी। वह आय-व्यय, वार्षिक कर, सेना का खर्च, सब अपने हस्ताक्षर से करती थी। दान-धर्म, पूजा-पाठ और तीर्थ-व्रत भी वह सदा करती ही रहती थी।

मल्हारराव ने राज्य का उत्तराधिकार अहिल्या को सौंपकर पेशवा को भी इसकी सूचना दे दी। पेशवा भी अहिल्या के गुणों

से बहुत प्रसन्न थे। वे उसकी प्रशंसा करके लोगों को उसकी शासन-कुशलता का उदाहरण दिया करते थे। अहिल्या इतना राज्य-काज करते हुए भी क्रोध और अहंकार से रहित थी। मल्हारराव पानीपत के युद्धों में जा रहे थे कि ग्वालियर के आलम पुर गांव में उनका देहान्त हो गया। वे मरने से पहले, अपने विश्वास पात्र तुकोजीराव होलकर को अपने पौत्र की देख-रेख का आदेश दे गये।

अहिल्याबाई को जब अपने श्वसुर की मृत्यु का समाचार मिला तो वह बड़ी दुःखी हुई। उसने उनकी इच्छानुसार ही तुकोजी-राव के परामर्श से अपने पुत्र मालीराव को राज्य-तिलक किया। मालीराव राज सिंहासन पर बिठाया गया, परन्तु वह अभी बालक ही था। राज्य का सारा प्रबन्ध अहिल्याबाई ही करती रही। पर दैव की गति बड़ी विचित्र है। पुत्र को राजा बनाये एक साल ही हुआ था कि अहिल्या को उसकी भी मृत्यु का दृश्य देखना पड़ा। अहिल्याबाई पति, श्वसुर और पुत्र को खोकर एक कन्या मात्र को लिये हुए, सब दुःखों को सहते हुए भी धीरता से राज्य-प्रबन्ध चलाने लगी। उसके धर्म-प्रेम ने उसके मन को विपद् में भी सहारा दिया।

अहिल्याबाई भीतर-बाहिर सब ओर से राज्य प्रबन्ध में लीन थी। उसी समय उसके मन्त्री गंगाधर राव की उससे खटपट हो गई। धन के लोभ से गंगाधरराव अपने एक निकट सम्बन्धी को गोद लेने के लिये अहिल्याबाई से कहा करता था। पर महारानी उसके स्वार्थ को जानकर उसकी बात को नहीं मानती थी। इससे वह क्रुद्ध होकर राज्य से चला गया। उसने पेशवा के चचा

अपने साथ मिलाकर अहिल्या पर चढ़ाई कर दी। अहिल्या के गुप्तचरों ने शीघ्र ही सब समाचार रानी को सुनाया।

जब अहिल्या को पता लगा तो उसने पहले एक पत्र नम्र भाषा में राघोवा को लिखा, पर उसने पत्र की ओर दृष्टि भी न डाली। रानी ने गायकवाड़ और भौंसले से सहायता मांगी। भौंसला सेना लेकर नर्मदा के तट पर आ पहुँचा और राघोवा की सेना से टक्कर लेने को प्रस्तुत हो गया। पेशवा ने भी सहानुभूति का पत्र भेजकर अहिल्या की प्रशंसा की। सब प्रबन्ध करके महारानी अहिल्याबाई शस्त्र धारण करके देशद्रोहियों से युद्ध करने चली। वह अश्वारूढ़ होकर अपनी सेना साथ लेकर गड़बा-खेड़ी के स्थान पर शत्रु की प्रतीक्षा करने लगी। तुकोजीराव सेना लेकर चिप्रा के तट पर शत्रु सेना के सम्मुख जा डटा।

उसकी युद्ध-सज्जा देखकर शत्रु चकित हो गये। राघोवा ने संधि कर ली और इन्दौर में आकर महारानी के दर्शन किये। उसका आतिथ्य करके रानी ने भी उसको सम्मानपूर्वक विदा किया। गंगाधर दक्षिण की ओर जाकर कुछ काल बाद ही मृत्यु को प्राप्त हो गया।

अहिल्याबाई के राज्य में यद्यपि शान्ति थी, सुप्रबन्ध था, तथापि कुछ दुष्ट लोग लूट-पाट मचाकर प्रजा को बहुत पीड़ित कर रहे थे। महारानी ने सब गांवों के प्रतिनिधियों को एकत्र करके चोर डाकुओं के उपद्रव की चर्चा की। उसने उस सभा में यह घोषणा की कि जो कोई वीर मेरे राज्य को चोर डाकुओं से बचा देगा उसके साथ मैं अपनी कन्या मुक्ताबाई का विवाह कर दूंगी। इस घोषणा को सुनकर एक मरहटा वीर यशवंतराव फणसे इस काम के लिए उद्यत हो गया।

महारानी की सहायता के आश्रित यशवंतराव ने दो वर्ष में ही सब चोर डाकुओं से देश को छुड़ा दिया। महारानी ने प्रतिज्ञानुसार उससे अपनी कन्या का विवाह धूम-धाम से कर दिया। भीलों ने भी "भीलकौड़ी" नाम का एक कर पथिकों पर लगा रखा था, जो उस कर को नहीं देता था उसे वह मार देते थे। महारानी ने भीलों को भी उपदेश देकर, कार्य सौंपकर, धन देकर तथा दण्ड देकर सीधा किया।

अहिल्या सम्भवतः विपत्ति पर विपत्ति सहने के लिए उत्पन्न हुई थी। पति, श्वसुर और पुत्र की मृत्यु के अनन्तर अहिल्याबाई का नाती और उसके दुःख में जामाता यशवन्तराव का भी भाग्यान्त हो गया। यशवन्तराव के मरने पर पुत्री मुक्ताबाई ने सती होना चाहा। पहले तो अहिल्याबाई ने उसे बहुत रोका। पर जब उसने किसी प्रकार भी न माना, तो हृदय पर पत्थर रखकर मुक्ताबाई को पति के साथ सती होने की आज्ञा दे दी। इस प्रकार निरन्तर प्रिय बन्धुओं का वियोग सुनकर हृदय फटने लगता है। पर अहिल्या धन्य थी, जिसने यह सब कष्ट सहा।

एक बार राघोबा को फिर अहिल्या से धन बटोरने की इच्छा हुई। उसके संदेश को पाकर अहिल्या ने उत्तर में कहला भेजा कि मैं अपने श्वसुर की सब सम्पत्ति शंकर जी के निमित्त दान कर चुकी हूँ। आप उसमें से दान लेना चाहें तो ले सकते हैं। इस उत्तर को सुनकर राघोबा चिढ़ गया। वह सेना लेकर चढ़ दौड़ा। इधर अहिल्या भी स्त्रियों की सेना सजाकर उसके सम्मुख जा डटी। राघोबा लज्जित और निराश होकर युद्ध किये बिना ही वहां से लौट गया।

महारानी अहिल्या श्वेत वस्त्र पहनती थी। उसकी वेश-भूषा सादी थी। वह दान-पुण्य करके भूखों को रोटी खिलाकर, स्वयं थोड़ा सा आहार करती थी। दीनों का विशेष ध्यान रखती थीं। वह राज्य-कार्य के सब काम स्वयं करती थी। प्रातः से सायंकाल तक वह भोजन और थोड़े विश्राम के अतिरिक्त लगातार राज्य की देखभाल करती थी। वह स्वयं कागज-पत्रों पर हस्ताक्षर करती थी। उनसे सब लोग अपनी कष्ट-कथा कह सकते थे। उसने काशी, मथुरा आदि तीर्थों पर बड़े बड़े मन्दिर, घाट, धर्मशालायें बनवा दी थीं। दरिद्रों के लिए सदाव्रत खुलवा दिये थे। काशी के विश्वनाथ जी के मन्दिर में उसने स्वर्ण का पत्रा भी चढ़ाया था। राज्य में उत्तम सड़कें बना दी थीं। वह धर्मात्मा और दयालु स्वभाव की थी। प्रजा पर पुत्रवत प्रेम करती थी। वह स्तुति से बचती थी। एक बार एक ब्राह्मण उसकी स्तुति में एक पुस्तक बनाकर लाया, अहिल्या ने अप्रसन्नता प्रगट करके उस पुस्तक को नर्मदा में फिकवा दिया।

मुक्ताबाई का पुत्र नत्थू भी २० वर्ष की आयु में चल बसा था। उसके शोक में यशवन्तराव भी स्वर्ग सिधार गया था। मुक्ता भी पति के साथ ही चिता पर जल मरी थी। अहिल्या ने सब दुःख जी कड़ा करके सहा। शायद वह सहने और तप करने को ही बनाई गई थी। उसने पूरे ३० वर्ष तक अपने देश पर सुशासन किया। सन् १७६५ ई० में यह देवी ६० वर्ष की आयु में अपनी प्रजा को रोता छोड़कर स्वर्ग सिधार गई। तुकोजीराव उसे सदा सहायता देते रहे थे। आज अहिल्या की न्यायपरायणता को स्मरण करके लोग उसे पूजते हैं। ऐसी देवी से भारत का नाम संसार में उज्ज्वल हो उठा है।

कमलादेवी नेहरु

आर्यावर्त की पुण्यभूमि गौरवमयी महिलाओं की खान रही है। संसारभर की उच्च स्त्रियों की गणना में यहां की देवियों का नाम प्रथम ही रहा है। स्वभावतः ही भारती स्त्रियों की महत्ता समय समय पर प्रकट होती रही है।

हमारे देश के हृदय-सम्राट् पं० जवाहरलाल नेहरु का नाम, किससे छिपा है। भारतवर्ष ही नहीं, सारा संसार ही उनके नाम से परिचित है। उन्हीं की सुयोग्या तथा त्यागशील पत्नी का चरित्र एक आदर्श चरित्र है। भारत की वर्तमान राजनैतिक हलचल में जिन वीर स्त्रियों ने अपने सब सुखों को त्यागकर देश पर तिल तिल करके अपने प्राणों की आहुति दी है, कमलादेवी नेहरु उनमें से प्रमुख हैं।

एक काश्मीरी ब्राह्मण पं० जयकृष्ण अटल जयपुर में रहते थे। इनके कोई भी सन्तान न थी। निराश होकर इन्होंने एक काश्मीरी ब्राह्मण बालक को गोदी लिया। उस बालक का नाम जवाहरलाल कौल था। जवाहरलाल बड़े होकर दिल्ली में अपना व्यापार करने लगे। अब भी दिल्ली के अनेक व्यापारी उनके व्यापार-चातुर्य की प्रशंसा करते हैं। इन्हीं जवाहरलाल कौल के घर सन् १९०० ई० में एक कन्या उत्पन्न हुई, जिसका नाम कमला देवी रखा गया।

कौल जी के घर और भी कई बच्चे हुए थे। उनके सब से छोटे पुत्र कैलाशनाथ कौल आजकल सीतापुर में रहते हैं। ये कमलादेवी के सब से छोटे भाई हैं।

कमलादेवी के पिता एक स्नेही पिता थे। वे अपनी सन्तान के पालन-पोषण तथा उनकी शिक्षा-दीक्षा की ओर विशेष ध्यान देते थे। कमलादेवी ने अपना बालकपन राजकुमारियों की भांति बिताया! काश्मीरी ब्राह्मणों के यहां कन्याओं की शिक्षा आरम्भ से ही देवनागरी लिपि में होती रही है। यद्यपि वे स्वयं उर्दू-फारसी की ओर बहते रहे हैं, तथापि उन्होंने लड़कियों की पाठ-प्रणाली को दूषित नहीं होने दिया। कमलादेवी की शिक्षा का प्रबंध घर पर ही किया गया था। वे शीघ्र ही हिन्दी में प्रवीण हो गई। कमलादेवी की बुद्धि बड़ी तीव्र थी। वे जो कुछ पढ़तीं, उसे तुरन्त ही स्मरण कर लेती थीं। जब वे सात वर्ष की थीं तो इन्हें प्रयाग में किसी सम्बन्धी के यहां जाकर स्थायी रूप से रहना पड़ा। कौल जी ने ऐसा क्यों किया, ठीक पता नहीं, संभवतः प्रयाग को शिक्षा का केन्द्र समझकर कौल जी ने कमलादेवी को अपने संबन्धी के यहां भेज दिया हो। प्रयाग में कमलादेवी ने कुछ अंग्रेज़ी भी सीख ली।

प्रयाग के सुप्रसिद्ध वकील पं० मोतीलाल नेहरू काश्मीरी पण्डितों में बहुत आदर की दृष्टि से देखे जाते थे। वे बड़े धनी थे और चोटी के वकील थे। इनका कमलादेवी के माता-पिता से अच्छा परिचय था। पं० मोतीलाल की तीन कन्याएं थीं और एक पुत्र था। इनके पुत्र पं० जवाहरलाल नेहरू आज भारत के बेताज बादशाह कहे जाते हैं। पं० जवाहरलाल नेहरू जी की शिक्षा के लिये पं० मोतीलाल जी ने रुपया पानी की तरह बहाया था।

घर पर शिक्षा पाने के पश्चात् पं० जवाहरलाल नेहरू ने योरुप में शिक्षा पाई। पण्डित जी जब इंगलैण्ड में बैरिस्टरी की परीक्षा देने वाले थे तब उनके माता-पिता प्रयाग में सुयोग्य कन्या की खोज में थे। पं० जवाहरलाल नेहरू की माता श्रीमती स्वरूप रानी की दृष्टि कमलादेवी की ओर लगी हुई थी। अन्ततोगत्वा उन्होंने कमलादेवी को ही वधू बनाने का निश्चय किया।

पं० मोतीलाल नेहरू और उनकी धर्मपत्नी स्वरूपरानी ने कमला देवी को पं० जवाहरलाल नेहरू के लिए चुनकर अपने कीर्ति-शाली वंश को और भी उज्ज्वल बना लिया। कमला के बिना जवाहर कदाचित् अधूरा रहता और जवाहर के बिना कमला भी अपने सौरभ को जगत् में न फैला पाती। दोनों का चुनाव दोनों के माता-पिता को स्वीकृत था। एक बार जब पं० जवाहरलाल नेहरू योरुप से आये हुए थे तो मसूरी उनकी कमलादेवी से भेंट कराई गई थी। दो वर्ष के अनन्तर जब वे बैरिस्टरी पास करके भारत लौटे तब कमलादेवी का उनसे विवाह सम्पन्न हो गया।

विवाह के समय कमला की आयु १६ वर्ष की थी। विवाह की धूम-धाम के क्या कहने। दोनों ओर बड़ी सज-धज धज थी, अपूर्व समारोह था। पं० मोतीलाल तो राजाओं से बढ़ कर ऐश्वर्यमय जीवन बिताते थे। उनके धन का ठिकाना न था। फिर अपने एक मात्र पुत्र के लिये उसका उपयोग न करते तो कब करते? आपने ऐसे भारी भोज दिये कि जिसमें सरकारी अधिकारी तक निमंत्रित किये गये। वे भोज, सम्मिलित होने वाले लोगों के लिये, आज तक भी स्मरणीय बात रह गये हैं। यह जवाहरलाल, जो अंग्रेजी शिक्षा के प्रभाव से प्रभावित होकर देशी भाषा, देशी भेष, देशी

आचार विचार सब से घृणा करते थे, एक कश्मीरी पंडित के उच्चारण किये हुए कुछ मन्त्रों द्वारा अग्नि-कुण्ड के सामने, एक बिल्कुल देशी शिक्षा प्राप्त कश्मीरी कन्या से जीवनभर के लिये ऐसे सुदृढ़ गठजोड़े में बांध दिये गये कि फिर उससे निकलना तो क्या था, वे ज्यों ज्यों देवी जी को पहचानते गये त्यों-त्यों स्वदेशी बनते गये।

कमला नेहरु वंश की पुत्रवधू बनी। पं० मोतीलाल और स्वरूपरानी कमला को अपनी पुत्री के समान ही स्नेह करते थे। कमला जी ने घर में आते ही अपने स्वभाव से सब को मोहित कर लिया। जवाहरलाल जी की बहिनें कृष्णा नेहरु और विजयलक्ष्मी जी पर उनका सगी बहिनों सा प्रेम हो गया। सास ससुर की वे सदा सेवा करके उन्हें प्रसन्न रखने लगीं। घर के नौकर-चाकर और अन्य कर्मचारी सब से दया का बर्ताव करतीं। सगे संबन्धी सब ही कमला जी से प्रसन्न हुए। पं० जवाहरलाल जी का तो कमला जी से इतना प्रेम हो गया मानो उन्हें पाकर वे एक परितृप्ति, एक संतोष, पा गये हों।

कमला देवी आज इस नश्वर संसार में नहीं। उसने अपना तन, मन, धन सब कुछ अपने पति की इच्छा पर निछावर कर दिया। पतिव्रता कमला जवाहरलाल की वास्तविक पत्नी थी।

विवाह के बाद कमला नेहरू को अंग्रेजी समझने का भी अच्छा अभ्यास हो गया था। इनको १९१७ ई० में एक पुत्री उत्पन्न हुई, उसका नाम इन्दिरा रखा गया। यह कन्या भी अपने माता-पिता के समान ही वीर-हृदय और देश-भक्त है। परमेश्वर इसे चिरंजीव रखे। १९२४ ई० में कमलाजी को एक पुत्र भी उत्पन्न हुआ,

पर तीन दिन के बाद वह चल बसा। उसके बाद कमला जी का स्वास्थ्य प्रायः क्षीण ही रहा। उनके और कोई सन्तान नहीं हुई। पं० मोतीलाल और माता स्वरूप रानी की, पौत्र का मुख देखने की, इच्छा पूरी न हो सकी। एक बार पिता ने पुत्र को दूसरा विवाह करने के लिए बल देते हुए कहा, "आखिर आनन्द भवन में कोई चिराग जलाने वाला भी होगा या नहीं" तब पं० जवाहरलाल ने इन्दरा को उन्होंने पुत्र के समान पाला है और उसे भी उच्च शिक्षा प्राप्त करने के लिये योरप में भेजा है।

पं० जवाहरलाल नेहरू ने दो तीन वर्ष तक बैरिस्टरी की। पर उनका मन उसमें न लगा। वे भारत की राजनीति में मन लगाते रहे। धीरे धीरे उन्होंने बैरिस्टरी को छोड़कर राजनीति में भाग लेना आरम्भ कर दिया। पुत्र को देखकर पण्डित मोतीलाल नेहरू भी राजनीति में भाग लेने को बाध्य हुए। यह सब देखकर कमला देवी नेहरू अपने पति और ससुर से पीछे कब रह सकती थीं। इन्होंने भी राजनीति में उनके साथ ही साथ सहयोग देना आरम्भ कर दिया।

सन् १९१९ ई० में पण्डित मोतीलाल जी कांग्रेस के सभापति बनाये गये थे। उन्होंने अपनी जेब से हजारों रुपये खर्च करके पार्लियामेंट को तारें दीं और निरपराध भारतवासियों को फाँसी से छुड़वाया। जवाहरलाल जैसा स्वतन्त्र हृदय युवक भला पीछे कब रह सकता था। उसने राजनीति में खुल्लमखुल्ला भाग लेना आरम्भ कर दिया। सौभाग्यवश महात्मा गांधी ने सन् १९२० और २१ में असहयोग आन्दोलन चला दिया। जवाहरलाल ने भी अपनी बैरिस्टरी को उसी समय छोड़ दिया। आन्दोलन में आपने

अपनी यन्त्रणाओं से जान डाल दी। भला सरकार कब तक मौन रहती। जवाहरलाल को बन्दी कर लिया गया। जवाहर का बन्दी होना था कि कमला सिंहनी के समान इस आन्दोलन में कूद पड़ी। असहयोग आन्दोलन कमला के आने से चमक उठा! स्कूल, कालेज, कचहरी, सरकारी नौकरी का बहिष्कार होने लगा। लोग विदेशी कपड़ों की होली जलाने लगे। जवाहरलाल तो विदे ी कपड़ों को उतार ही चुके थे। कमला ने भी बड़ी बड़ी मूल्यवाली साड़ियों को इकट्ठा करके अपने हाथों से आग लगा दी। नेहरू परिवार का ऐसा त्याग देखकर लाखों स्त्रियों ने अपना सब विदेशी कपड़ा जला दिया। कमला ने जगह जगह होलियां जलानी आरम्भ कर दीं, इससे आन्दोलन उग्र हो गया।

कमला नेहरू सुकोमल शरीर की थीं। इनका स्वास्थ्य प्रायः क्षीण रहता था। इस आन्दोलन में भाग लेने से और पति के क़ैद होने से इनके जीवन को भी बहुत धक्का लगा! स्वास्थ्य क्षीण होता गया और डाक्टरों ने राजयक्ष्मा का आरम्भ बतलाया। इससे नेहरू परिवार को इनके स्वास्थ्य की चिन्ता बढ़ गई। यहां पर उत्तमोत्तम चिकित्सा से भी जब लाभ न हुआ तो जवाहरलाल रिहा होते ही स्विट्जरलैण्ड ले गये। वहां इन्हें कुछ कुछ लाभ हुआ। इनके साथ ही इन्दिरा और पण्डित जी की बहिन कृष्णा नेहरू भी गई थी। कमला स्वस्थ हो गईं और पण्डित जी के साथ उन्होंने समस्त योरुप की यात्रा भी की। पंडित जी इन दिनों ब्रूसेल्स में होने वाली साम्राज्य विरोधिनी सभा में भी सम्मिलित हुए थे। भारत में आने पर ये कुछ दिन स्वस्थ रहीं; पर फिर इन्हें देश-सेवा का कार्य करना पड़ा और इनका शरीर फिर अस्वस्थ हो गया। एक बार नेहरू कमेटी के निर्णय पर पिता-पुत्र में वैमनस्य

हो गया। मोतीलाल जी का विरोध जवाहरलाल जी ने ही सर्व दल सम्मेलन में कर डाला! महात्मा गांधी के बहुत समझाने पर भी जवाहरलाल न माने। कमला जी को इससे बहुत धक्का लगा। उन्होंने भी पिता पुत्र की संधि कराने में भरसक यत्न किया।

सन् १९२९ की कांग्रेस के सभापति पं० जवाहरलाल नेहरू बने। लाहौर के बाजारों में उनका घोड़े पर जलूस निकला। भल्ला कम्पनी की दुकान के ऊपर बैठे हुए पं० मोतीलाल नेहरू और माता स्वरूपरानी नेहरू ने पुत्र को, वीरों की तरह जयमाल पहने, भारत का हृदय सम्राट् बना हुआ, देखकर रुपयों की थैलियां लुटा दी थीं। अनारकली में रुपयों की वर्षा होने लगी थी। जवाहर मुस्करा रहा था। कमला के मन में उस समय क्या क्या भाव आये होंगे। वह वीर पुरुष की वीर-पत्नी बनकर अपने को धन्य समझ रही होगी। कांग्रेस का कार्यक्रम आरम्भ हुआ। महात्मा गांधी ने पहली जनवरी सन् १९३० को आधी रात बीतने के ५ मिनिट बाद जवाहरलाल के सभापतित्व में भारत के लिये पूर्ण स्वतन्त्रता का प्रस्ताव पास कर दिया।

महात्मा गांधी जी ने डांडी का मार्च करके नमक-कानून तोड़ा। फिर क्या था, सारे भारत में नमक बनने लगा। धड़ा-धड़ लीडर पकड़े जाने लगे। महात्मा जी पकड़े गये। जवाहरलाल ने नमक बनाया; वे भी पकड़े गये। फिर तो मोतीलाल जी ने भी आनन्द भवन में नमक बनाना शुरू किया। कमला ने तो गली गली नमक बनाना आरम्भ कर दिया। पर सरकार ने कमला को बन्दी न बनाया। मोतीलाल जी ने विदेशी कपड़ों के व्यापारियों से मिलकर उनके कपड़ों पर मोहर लगवाकर बेचना बन्द करा दिया। तब तो व्यापारियों ने भी मोतीलाल का साथ दिया। जिसने साथ

न दिया, उन पर धरना देकर बहिष्कार करने का दण्ड लगाया गया। इससे सरकार घबरा गई और मोतीलाल जी को पकड़कर छः मास के लिए बन्दी कर दिया गया।

अपने धर्म-पिता को कारागार में जाते देख कमला सच्ची क्षत्राणी के समान मैदान में आ डटी। यह स्वयं धरना देने लगी। स्वयंसेविकाओं और सेवकों का तो उसने पहले ही गांव गांव, गली गली, घर घर जाकर संगठन किया था। अब स्वयं धरना देकर विदेशी व्यापारियों का माल बिकने से रुकवाने लगी। कृष्णा नेहरू और कमला मर्दाना भेष में वालंटियर बनकर धरना देने लगीं। प्रायः व्यापारियों ने विदेशी कपड़ा बेचना बन्द कर दिया। पर बेचने वाले भी थे ही। गरमी के दिन थे; तेज धूप थी, लू बदन को झुलस रही थी, पृथ्वी जल रही थी। कमला एक विदेशी कपड़े की दुकान पर धरना दे रही थी। जब कोई गाहक आता तो कमला उसे कपड़ा न खरीदने की प्रार्थना करती। कपड़ा बिकना तो बन्द हो गया, पर सुकुमारी कमला अन्दर ही अन्दर रोगी रहने लगी।

यों की कमला जी ने स्वदेशी के प्रचार के लिए गांव गांव का दौरा किया, व्याख्यान दिये। निर्धन गांव वालों को धन देकर भी स्वदेशी कपड़े पहनाये। एक बार, एक गांव वाले ने कमला जी से कहा "आपका ख्याल सुनकर, मैं स्वदेशी कपड़ा पहनना चाहता हूँ, पर मेरे पास एक भी पैसा नहीं, कहां से पहनूं"। कमला ने तुरन्त एक रुपया अपने पास से देकर कहा—'इसकी धोती लेकर पहनो।' स्वदेशी के लिए, उन्होंने चंदा भी किया। कमला को कार्य करते हुए, देखकर अच्छे अच्छे घरों की स्त्रियों ने स्वदेशी

वस्त्र पहनने आरम्भ किये थे। कमला जी की अत्यधिक लगन और दौड़-धूप से स्वदेशी आन्दोलन बहुत बढ़ गया था।

पं० मोतीलाल जेल में रोगी हो गये थे। सरकार ने उन्हें छोड़ दिया। वे आनन्द भवन में रोगी पड़े थे। कमला उनकी सेवा में लगी रहती थीं, परन्तु देश के काम को भी साथ साथ करती जाती थीं। इन दिनों प्रयाग में सिविल लाईन्स में जलूस जाने बंद थे। पर कांग्रेस वाले जलूस ले जाने के लिए तुले हुए थे। लोग पकड़े जाते थे, तो भी जलूस ले जाने को डटे हुए थे। एक दिन कमला को अगवी बनाकर जलूस चला, ४० सहस्र से अधिक मनुष्य जलूस के साथ थे। पुलिस ने अलबर्ट रोड पर जलूस को रोका। सब लोग धरना देकर वहीं बैठ गये। जुलूस के साथ बैंड भी था। आधी रात तक लोग बैठे रहे। जब पं० मोतीलाल को पता लगा तो वे रोगी अवस्था में ही मोटर में बैठकर पुलिस के घेरे को चीर कर जलूस में पहुंचे और उन्होंने सिंहनाद करके पुलिस को वहां से हटने के लिये बाध्य किया। अपनी पुत्र-वधू कमला पर पं० जी कितना स्नेह रखते थे, इसके लिए यह एक ही उदाहरण पर्याप्त है।

क्षीण स्वास्थ्य को लिए हुए कमला काम कर रही थीं। इतने में कर-बन्दी का आन्दोलन आरंभ हुआ। प्रयाग इस आन्दोलन का गढ़ था। कमला ने भी गांव-गांव में प्रचार करना शुरु किया। लोग कमला की वक्तृता सुनकर सरकार को कर देना बन्द करते जाते थे। वे कमला की सहानुभूति और प्रेम के वश में होकर उसे माता के समान पूजते थे। कर-बन्दी का आन्दोलन सफल होते देख सरकार ने कमला जी को बन्दी कर लिया। पं० मोतीलाल जी का रोग बहुत बढ़ गया था।

सरकार ने कमला को छोड़ दिया। वे पं० जी की सेवा करने लगीं।

इन दिनों सरकार से कांग्रेस की संधि हो गई। सभी नेता प्रयाग आये हुए थे। महात्मा गांधी भी उपस्थित थे। पंडित जी को ऐक्सरे के लिये लखनऊ भेजा गया। पर ६ फवरी को ६ बजे सायं पण्डित मोतीलाल जी का स्वर्गवास हो गया। कमला को इस से बहुत धक्का लगा। इधर जवाहरलाल जी का स्वास्थ्य भी बिगड़ रहा था। दोनों लंका की यात्रा करने चले गये। वहां से आने पर देश में फिर पकड़ धकड़ होने लगी। गोलमेज कांफ्रेंस के बाद भारत में आते ही महात्मा गांधी पकड़े गये। जवाहरलाल भी पकड़े गये। कमला को फिर काम करना पड़ा। कांग्रेस कमेटियों को सरकार ने नियम-विरुद्ध घोषित कर दिया था। तो भी कमला जी विजयलक्ष्मी के साथ काम करती ही जाती थीं। उन्होंने स्वयं-सेवकों को संगठित किया। उनकी हर तरह से सहायता करके कांग्रेस के काम को जारी रखा। फिर कमला शहर के एक कोने से दूसरे कोने में दौड़ दौड़ कर वीरों को उत्साह देती फिरती थी और भोजन-छादन का प्रबन्ध करती थी। इस गौरवमयी महिला के सामने बड़े बड़े नेता भी हार मानते थे।

कांग्रेस-कार्य-कारिणी के सब सदस्य, प्रायः पकड़े जा चुके थे। तब कमला जी को और पं० मदनमोहन मालवीय जी को कांग्रेस कार्य समिती का सदस्य चुना गया। बम्बई में इनका जलूस निकाला गया। ५० या ६० सहस्र मनुष्य साथ थे, पुलिस ने जुलूस को रोककर मालवीय जी को पकड़ लिया।

परिश्रम और कष्ट के कारण कमला जी रोगी हो गईं और रोग-शय्या पर पड़ गईं। इस पर सरकार ने जवाहरलाल जी को कुछ

लिये बन्दीगृह से मुक्त कर दिया। चिकित्सा करने से
जी अच्छी हो गईं और फिर काम में जुट गईं। बिहार के
में इन्होंने फिर सहायता के लिये काम करना आरंभ
या। ये काम इतनी लगन से करती थीं कि फिर रोगी बन गईं।
१०. जवाहरलाल जी को कलकत्ता में भाषण देने के कारण
वर्ष का कारावास हो गया। कमला जी शनैः शनैः अधिक
होती गईं। डा० विधानचंद्रराय ने यत्न-पूर्वक चिकित्सा की,
लाभ न हुआ। रोग बढ़ता गया, दुबारा फिर जवाहरलाल
कुछ दिन के लिये सरकार ने मुक्त किया। पर वे कुछ ही
कमला के पास रह पाये थे कि बन्दी कर लिये गये। अन्त में
को अल्मोड़ा से भवाली सेनिटोरियम में रखा गया। यहां भी
न हुआ तो डाक्टर और इन्दिरा के साथ कमला स्विटजरलैण्ड
वहां से लुसान के बेडेन वलिर के सेनिटोरियम में चिकित्सा
वहां कमला कभी अच्छी कभी बीमार रहीं। अन्त में बचने
आशा न रही। तब लोगों की प्रार्थना पर जवाहरलाल को
से छोड़ा गया। जवाहरलाल वायुयान के द्वारा कमला के पास
गये। परन्तु कमला जी के स्वास्थ्य में विशेष अन्तर न
। इधर कांग्रेस ने जवाहरलाल को फिर सभापति चुना।
ला ने जवाहरलाल जी को स्वदेश-कार्य के लिये भारत जाने
स्वीकृति दे दी और अपने रोग की परवाह न की। पर पंडित
कमला जी को ऐसी विकट अवस्था में कैसे छोड़ सकते थे।
त में २८ फरवरी १९३६ ई० को प्रातःकाल वह वीर पुत्री, वीर
ी तथा वीर माता पं० जवाहरलाल के सामने ही अपनी पुत्री
दिरा को रोती छोड़कर इस असार संसार से चल पड़ी। पंडित
उसका दाह-कर्म करके अस्थियां लेकर जब भारत पहुंचे तो